शिक्षाप्रद, ऐतिहासिक-कहानियां

[सच्ची एवं प्रेरणाप्रद कहानी संग्रह]

लेखक
विद्याभास्कर श्री सच्चिदानन्द शास्त्री, एम० ए०
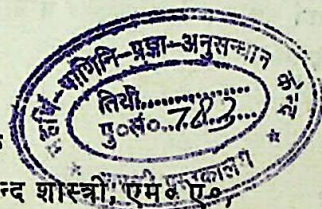
प्रकाशक—
मधुर-प्रकाशन
आर्य समाज मन्दिर,
२८०४-बाजार सीताराम, दिल्ली-११०००६

प्रथम संस्करण] फरवरी १६८४ [मूल्य १५ रुपये

राजपाल सिंह शास्त्री
अध्यक्ष, मधुर-प्रकाशन,
आर्य समाज मन्दिर, २८०४ बाजार सीताराम,
दिल्ली-११०००६
फोन—२६८२३१

प्रकाशन वर्ष—२६ फरवरी १९८४ (शिवरात्री महोत्सव)
मूल्य—१५) रुपये

मुद्रक :—७१०८ जागृति प्रिन्टर्स, गली पहाड़ वाली पहाड़ी धीरज दिल्ली-६

विषय-अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय :—

नीतिकार के अनुसार

"यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारोनाऽन्यथाभवेत् ।।

जैसे कुम्हार कच्चे घड़े को चिह्नित कर अग्नि में तपाता है, तत्पश्चात् वह चिह्न यथापूर्व बने रहते हैं। ठीक इसी प्रकार कोमल बाल-बुद्धि युक्त बालकों में शिक्षाप्रद कथानकों के द्वारा वृद्धा माताएं बच्चों में जो संस्कार डालती हैं, वे अमिट होते हैं।

इस लघु पुस्तिका में इसी प्रकार की शिक्षाप्रद ऐतिहासिक कथा-माला का सृजन किया गया है। कथानक मननशील, तेजवान और प्राणवान बन पड़े हैं। जिन्हें पढ़कर भावी पीढ़ी उन्नतिशील एवं प्रगतिशील बनेगी।

लेखक की भावना नई पीढ़ी को उन संस्कारों में ढालना है जिन में महापुरुषों की एक परम्परागत श्रृंखला बनी हुई है। उस उद्यान से कुछ चुनकर कुछ पुष्पों की माला गूंथ कर रची गई है। इसकी सुगन्ध से आबाल-वृद्ध सुवासित होंगे।

लेखक की यह तीसरी रचना आपके सामने प्रस्तुत है। इससे पूर्व भी इसी भावना से प्रेरित होकर "क्रान्ति के अग्रदूत" को समक्ष रखा। नारी-समस्या के समाधान में "नारी दर्पण" नामक पुस्तक अपने भावों के प्रकट करने में बेजोड़ बनी है। जिसे जनता ने सराहा है। इस कथामाला को भी विचारशील पाठकगण अपने यहां स्थान देकर हमें अपने सुझावों से प्रेरित करेंगे। संकलन के लिए लेखक आत्मीय बन्धु हैं। उनका आभार देना कुछ अपमान जनक सा ही होगा। उनकी प्रेरणा पर उनके सुलझे विचार हमें मिलते रहते हैं। और भविष्य में भी मिलते रहेंगे। इस आशा के साथ धन्यवाद सहित।

—राजपाल सिंह शास्त्री

भूमिका

इतिहास के पृष्ठ धुंधले न पड़ पायें और नयी-पीढ़ी उन पृष्ठों को पढ़कर कुछ समझ सके। ऐसा विचार अन्तस में उठा और उन पृष्ठों में विभिन्न महापुरुषों को माला में पिरो कर एक लघु कथानक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। लम्बे-२ पृष्ठ साधारण-मस्तिष्कों में घर न सकें, अतः लघु रूप में कथानक बनाकर पृथक्-२ अंकित किया है।

पं० विष्णु शर्मा के हितोपदेश में कोआ-गीदड़-कछुआ का आकलन कर शिक्षाप्रद कहानियों को संजोकर जीवन में नया मोड़ दिया है और "कथाच्छलेन वालानां नीतिस्तदिह कथ्यते" के अनुसार हमने बहाने मात्र न बनाकर उन पात्रों को सही रूप में दिग्दर्शन कराया है। नाम व रूप से भी प्रकट हैं। "शिक्षाप्रद ऐतिहासिक-कहानियाँ" जिन्हें पढ़कर आवाल-वृद्ध अपने जीवन में नव संचार का अनुभव करसकेंगे।

समाज को कठिन दुरुह-रास्ता न दिखाकर व्याख्याता, उपदेशक अपनी मणिमाला में कुछ नवीनता देकर बात को आसान बना देते हैं। इससे श्रोता को समझने में सरलता होती है।

यह इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ भी इसी भावना के साथ भिन्न-२ वाटिकाओं से चुनकर एक नयी माला का सृजन किया है।

आज समाज का जीवन अपने नव-निर्माण में न लगकर उन चित्रों पर केन्द्रित है जिसके द्वारा जीवन में विलासिता, प्रमाद और शृंगारिक बन रहा है—कला एवं सांस्कृतिक प्रोग्रामों के बहाने राष्ट्र को ऐयाशी का मार्ग दिया जा रहा है। या फिर रोमाञ्टिक पत्रिकाओं, पिक्चरों व समाचारों के द्वारा डकैत-चोर-उचक्के बनाये जा रहे हैं। अश्लील गानों तथा पिक्चरों के द्वारा आज समाज का वातावरण दूषित हो रहा है।

ऐसे समय में लेखकों का दायित्व होता है कि वह देखें कि बीमार की बीमारी का सही उपचार क्या है? इसी से प्रेरित होकर यह लघु पुस्तिका आपके हाथों में समर्पित है। यदि आपने इसे सराहा-तो जहां प्रोत्साहन मिलेगा-वहां आत्म सन्तुष्टि के साथ कुछ लिखने की प्रेरणा भी मिलेगी।

—सच्चिदानन्द शास्त्री

समर्पण

(१) पूजनीया माता ! आपने वत्सल्य रस पान कराते हुए शिक्षाप्रद, मृदु वाणी से जिस मेरे जीवन का निर्माण कर परिवर्द्धित किया, ऐसी उस मां के चरणों में श्रद्धा-सुमन—

(२) पूजनीय पितृ चरण ! वात्सल्यमयी माँ की गोद से चल कर आपकी वाणी की कोमलमयी कठोरता के साथ कर्कश हाथों से जिस मेरे जीवन का निर्माण करके आचार्य कुल में पदार्पण कराया। ऐसे पितृ चरण की सेवा में यह अमूल्य उपलब्ध आर्शीवाद।

(३) श्रद्धेय आचार्य प्रवर ! पितृ कुल चरण रज से चल कर कुलभूमि में आकर आपके जिन स्नेहपूर्ण आर्शीवाद वाक्यों से शिक्षित एवं दीक्षित करके ऋषि दयानन्द के सपनों को मूर्तरूप देने के लिए आपने जिस आर्य जगत् को समर्पित किया।

इस प्रकार "मातृदेवोभव, पितृदेवोभव, आचार्यदेवो भव" का अनुसरण करते हुए सदैव आपके शुभ आर्शीवाद, समय-समय पर भविष्य की राह दिखाते रहेंगे—

उन—

स्वर्गीया माता तथा स्वर्गीय पूज्य पिता पं० रघुनन्दन जी शर्मा एवं स्वर्गीय आचार्य प्रवर श्री पं० नरदेव जी शास्त्री को सादर समर्पित—

—सच्चिदानन्द शास्त्री

१. शुकाचार्य और महिलाएं

एक बार महर्षि वेदव्यास के पुत्र शुकाचार्य कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक नदी पड़ी। उस नदी में नारियाँ वस्त्र उतार कर नग्न स्नान कर रही थीं। श्री शुकाचार्य जी नदी को पार करने के लिए नदी में घुसे, परन्तु नारियां निःसंकोच भाव से नग्नावस्था में उसी प्रकार स्नान करती रहीं, किसी ने भी अपने बदन को नहीं ढका।

उसके कुछ ही समय बाद महर्षि वेदव्यास जी उधर से आये और उस नदी को पार करने लगे। महिलाएँ उसी अवस्था में स्नान कर रहीं थीं। बूढ़े वेदव्यास जी को देखते ही स्त्रियों ने अपने शरीरों को कपड़ों से ढक लिया। वेदव्यास जी को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने नारियों के समीप जाकर अंगों के ढकने का कारण पूछा—स्त्रियों ने कहा कि 'महाराज, शुकाचार्य ब्रह्मचारी है और वह इन्द्रिय रस तथा लोकाचार से अनभिज्ञ बालक है। इसीलिये हमने उसे देखकर पर्दा नहीं किया, यह सुनकर महर्षि वेदव्यास जी निरुत्तर हो कर चले गये।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः। (अ० ११।५।२४)

ब्रह्मचारी का तेज बहुत उग्र होता है। सदाचार तथा ज्ञान की वृद्धि के कारण उस में सभी गुणों का निवास हो जाता है।

२. डाकू और महात्मा

एक डाकू सदा मुसाफिरों को मारा करता था और सब सामान लूट लिया करता था। एक दिन एक महात्मा घोड़े पर सवार हुए उधर जा रहे थे। डाकू ने कहा अपना घोड़ा मुझे दे दो और यदि आप को कहीं दूर जाना हो तो मेरा ऊंट तुम ले लो, पर महात्मा नहीं माने। डाकू बोला—अब तुम सावधान रहना ? मुझे यह घोड़ा अवश्य लेना है। यह कहकर वह अन्य मार्ग से होकर रोगी और साधु का वेश बनाकर रास्ते में पड़ गया और हाय-हाय करने लगा। इतने में वह महात्मा भी उधर ही आ पहुंचा। साधु को इस प्रकार तड़पता देखकर उस से न रहा गया, उस ने साधु से पूछा ? आप को क्या कष्ट है। उत्तर मिला कि मेरे पेट में बड़ी पीड़ा हो रही है जिस से मैं मरा जा रहा हूँ। महात्मा बोले—आप मेरे घोड़े पर चढ़ जायें, मैं आप को अस्पताल पहुंचाये देता हूं, साधु ने कहा कि मुझ से हिला-डुला तक नहीं जाता है, महात्मा जी ने अपनी पीठ पर बैठाकर चढ़ा दिया। ज्यों ही वह घोड़े पर बैठा और घोड़े के एड़ लगाई व कुछ दूर जाकर साधु वेश उतार कर अपने असली रूप में आकर कहा—क्यों भाई ! घोड़ा ले लिया कि नहीं। उस समय ऊंट लेकर भी घोड़ा नहीं दे रहे थे। महात्मा ने कहा—हां, घोड़ा जरूर ले लिया और मैं वापस भी नहीं मांगता। परन्तु मेरी एक बात ध्यान में अवश्य रखना। डाकू बोला—वह क्या ? महात्मा बोले—कि किसी को कहना नहीं कि हम ने साधु का वेश बना-कर घोड़ा लिया है, वर्ना नेकी का दरवाजा सब के लिए बन्द हो जायेगा। अच्छे से अच्छे साधु को भी लोग डाकू होने का सन्देह करेंगे। यह सुनकर डाकू के दिल पर चोट लगी और घोड़ा वापस करते हुए कहा—मुझे कुछ और उपदेश दो।

३. कर्तव्य का पालन

एक बार जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे ने एक गम्भीर मुकदमे का फैसला लिखकर एक लड़के को जो उनके यहां रहता था, डाक में छोड़ने को दिया। उस फैसले के साथ उन के साथी मि० जस्टिस पारसन्स का फैसला भी था। थोड़ी देर में उस लड़के ने आकर रानाडे से कहा कि डाकखाने पहुंचने से पहले वह पैकेट रास्ते में गिर गया। वे दोनों निर्णय पूना के एक खून के मुकद्दमे के थे। कहीं खूनियों के किसी सहायक व मित्र ने लड़के को लालच देकर या बहका कर उस से फैसला ले लिया हो। क्योंकि उस के खो जाने की खबर आप से आप पूना में पहले ही पहुंच गयी थी। इस की चर्चा सर्वत्र फैल गई और मि. रानाडे तथा जस्टिस पारसन्स को दूसरा फैसला लिखना पड़ा। जब यह समाचार रानाडे के घर वालों और मित्रों को मिला, तो वे उस लड़के पर आग बबूला हो गये और वे उस लड़के को पुलिस के हवाले करने का रानाडे से आग्रह करने लगे। तीन चार दिन पर्यन्त रानाडे चुप रहे और सब के व्यंग्य कटाक्ष सुनते रहे। रानाडे ने उस लड़के को झिड़कने के सिवाय कुछ नहीं किया। इस पर उन का आवेश और बढ़ गया। अन्त में एक मित्र ने कहा—रानाडे! इस बदमाश लड़के को मुंह क्यों लगाते हो! इस ने तो आप के ही घर में आग लगा दी है। फिर भी आप चुप बैठे हैं।

इस पर रानाडे ने गहरी सांस ली, उन के नेत्रों में आंसू आ गये और कहा—'मित्र, इस लड़के के पिता ने इसे मेरे सुपुर्द किया था। इस के पिता ने उस समय मुझे दिया था जब वह मृत्यु-शय्या पर था। मैंने तब वचन दिया था कि मैं इस के संरक्षक

का काम करूंगा । अतः इसे घर से निकाल कर मैं अपने कर्त्तव्य का पालन न कर सकता ।

यह बातें वह लड़का छिपकर सुन रहा था । वह सहृदयता पूर्ण वार्ता को सुनकर फूट-फूट कर रोने लगा । रानाडे ने उसे छाती से लगा कर सान्त्वना दी और उसे योग्य वनाया ।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।। यजु० अ० १ । मं० ५ ।।

सत्यमेव जयति नाऽनृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।।
मुण्ड० ३ । खं० १ । नं० ६ ।

नहि सत्यात्परो धर्म्मो नानृतात्पातकं परम् ।। ३ । इत्यादि

अर्थ—मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठे व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करे ।।१।। क्योंकि सर्वदा सत्य ही का विजय और झूठ का पराजय होता है । इसलिए जिस सत्य से चल के धार्मिक ऋषि लोग जहां सत्य की निधि परमात्मा है उस को प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अव भो होते हैं, उस का सेवन मनुष्य लोग सदा करें ।।२।। यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म है और न असत्य से परे कोई अधर्म है ।।३।। इस से धन्य मनुष्य वे हैं जो सब व्यवहारों को सत्य ही से करते और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते हैं । (व्यवहारभानु)

४. भगवान् बुद्ध और आधा अनार

भगवान् बुद्ध ने घोषणा की कि वे एक विशेष दिन स्वयं निर्धनों और असहायों की सहायता के लिए अपने हाथों से दान ग्रहण करेंगे और सब लोगों को उपहार भेंट लाने का निमन्त्रण दिया। नियत दिन आने पर महात्मा बुद्ध राजगृह में एक विशिष्ट स्थान पर विराजमान हो गये और दान ग्रहण करने लग गये। सब से पूर्व राजा बिम्बसार ने बहुमूल्य रत्नों, असंख्य स्वर्ण मुद्राओं के साथ पधार कर भेंट दी। महात्मा बुद्ध ने स्वीकार किया। उस के बाद सरदार, व्यापारी और अन्य धनाढ्य व्यक्तियों ने अपनी-अपनी भेंट प्रस्तुत की, इसे भी एक हाथ से ही ग्रहण कर लिया। इन के बाद एक गरीब बुढ़िया, अपने हाथ में आधा अनार लेकर आई, उस ने महात्मा बुद्ध को प्रणाम किया। और कहा—भगवन् ! आप के दान ग्रहण करने की चर्चा अभी सुनी है। मैं इस अनार से आधा खा चुकी हूं। मेरे पास देने को और कुछ नहीं है। कृपा कर इसे स्वीकार करें। महात्मा बुद्ध ने अपने दोनों हाथ फैलाये और उस आधे अनार को ग्रहण कर लिया। महाराज तथा राजकुमार आदि जनों को बड़ा आश्चर्य हुआ और कहा कि आप की लीला विचित्र है, इस आधे अनार को दोनों हाथों से ग्रहण करने का क्या कारण है ? हमारे उपहारों को तो एक हाथ से ही ग्रहण किया है। इस पर बुद्ध मुस्कराये और बोले—राजन् ! आपने मुझे बहुमूल्य उपहार भेंट किये हैं। परन्तु अपनी सम्पदा का दसवां भाग भी नहीं दिया है। इस में आप लोगों की कीर्त्ति का भाव है, उतना दान का भाव नहीं है। इस वृद्धा ने अपना सब कुछ अर्पण किया और वह भी खुशी से दिया है। इस से मैंने दोनों हाथों से उस के उपहार ग्रहण किये हैं।

५. बुद्ध और राजगुरु

महाराज बिम्बसार ५० बकरों की बलि चढ़ाने वाले थे। उन का राजगुरु बलिदान का कृत्य करने के लिए तैयार था। उसी क्षण बुद्ध यज्ञशाला में प्रविष्ट हुए और बिम्बसार को कहा—राजन्! ठहरो। परमात्मा ने सब जीवों को उत्पन्न किया है। वह अपने इन जीवों के मारने से प्रसन्न नहीं होगा। महाराज बिम्बसार ने कहा—भगवान् आप इस सम्बन्ध में राजगुरु से शास्त्रार्थ कर लें। मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि जो इस विवाद में जीतेगा। मैं उसी की सम्मति को ग्रहण करूंगा। बुद्ध ने राजगुरु से पूछा—राजगुरु! आप इन गरीब जीवों की हत्या क्यों करते हो?

राजगुरु बोला, मूर्ख! तीन व्यक्तियों को इस बलिदान से लाभ होता है और किसी का कोई नुकसान भी नहीं होता है। महाराज बिम्बसार को इस बलिदान से कीर्त्ति प्राप्त होगी, क्यों कि वे इस बलिदान के निमित्त हैं। मुझे भी कीर्त्ति मिलेगी, क्योंकि अपने हाथों से यह बलिदान करता हूं और यह बकरा भी पुण्य भागी है क्योंकि बलि होने पर यह सीधा स्वर्ग को जायेगा।

बुद्ध ने पूछा—यह बताओ कि क्या जिन की बलि चढ़ाई जाती है वे सब सीधे स्वर्ग को जाते हैं। राजगुरु ने कहा—इस में सन्देह ही क्या है। बुद्ध ने पूछा—राजगुरु क्या तुम्हारे पिता जीवित हैं? क्या तुम चाहते हो कि वे स्वर्ग में जाएँ। तुम अवश्य ही चाहते होगे।

राजगुरु ने कहा—निःसन्देह मैं यही चाहता हूं। बुद्ध ने कहा—तुम इस बात को जानते हो कि संसार के साधारण प्रवाह

में तुम्हें यह निश्चय नहीं हो सकता है कि तुम्हारे पिता स्वर्ग चले जायेंगे। राजगुरु ने उत्तर दिया, आप सत्य कहते हैं।

बुद्ध ने कहा—तब फिर तुम अपने पिता का बलिदान करके उन के लिए स्वर्ग में स्थान निश्चित क्यों नहीं कर देते हो।

राजगुरु निरुत्तर हो गया और रोष में आकर बोला; तेरा यह साहस ! अच्छा मैं तुझे समझूँगा।

परन्तु महाराज बिम्बसार समझ गये कि विजय किस ओर है। उन्होंने राजगुरु को सेवा से पृथक् कर दिया और बुद्ध के अहिंसा परम धर्म को अंगीकार कर के यज्ञों, पूजा-पाठों, धार्मिक कृत्यों के नाम पर जीवों की हत्या बन्द कर दी।

जीवा ज्योतिरशीमहि। [ऋ० ७।३२।२६]

हे ज्योतिर्मय ! प्रकाश के पुंज परमात्मन्। हम [जीवाः] जीव-गण [ज्योतिः] ज्योति को, ज्ञान प्रकाश को [अशीमहि] प्राप्त करें।

ज्योतियों के ज्योतिः भगवन् ! हम अज्ञान-अन्धकार में फंसे हैं। तू हमें प्रकाश दे। तू सब से बड़ा दानी है। अतः हे प्रभो ! हमारी प्रार्थना स्वीकार कर।

६. शेर और मनुष्य

एक मनुष्य ने एक शेर की भर्त्सना की और कहा—तू बड़ा दुष्ट पशु है तू, अपने स्वार्थ के लिए असंख्य गरीब पशुओं को मारता है। क्या इस निर्दयता के लिए शर्म नहीं आती है ?

शेर ने उत्तर दिया—हम शेर मनुष्यों से अधिक निर्दयी नहीं हैं। हम उन जानवरों को मारते हैं जिन्हें हम नहीं जानते। हम तुम्हारी तरह दिखावटी प्रेम से पशुओं को पालकर अपना पेट भरने के लिए उन्हें नहीं मारते, साथ ही अपनी जाति के लोगों को भी कभी नहीं मारते और तुम मनुष्य अपने वास्तविक और काल्पनिक स्वार्थों के लिए हजारों मनुष्यों का वध करने को तत्पर रहते हो। बताओ, हम मनुष्यों से किस प्रकार बुरे हैं। मनुष्य चुप हो गया और कोई उत्तर न बन पड़ा।

न स्रेधन्तं रयिर्नशत्। [सा० ४।४।३।२]

[स्रेधन्तम्] हिंसक को [रयिः] सुखदायक धन [न] नहीं [नशत्] प्राप्त हो सकता।

घातक का, हिंसक का जीवन स्वयं सदा संशय में रहता है। अतः उसे शान्ति प्राप्त ही नहीं हो सकती। सोना, चांदी, घर, द्वार आदि विनश्वर धन भले ही वह हिंसा के द्वारा प्राप्त कर ले, किन्तु चित्त की शान्ति उसे नहीं मिल सकती। वेद के अनुसार शान्ति ही प्राप्त करने योग्य धन है जैसा कि सामवेद में कहा है—'शं पदं मघं रयीषिणे'= धनाभिलाषी के लिए प्राप्त करने योग्य धन ही शान्ति है।

७. गार्गी और ब्रह्मज्ञानी

प्राचीन भारत में महिलारत्न गार्गी अधिकाधिक ज्ञान प्राप्ति की खोज में रहती थी—एक दिन उस ने सुना कि कोई सच्चे ब्रह्मज्ञानी दूरस्थ वन प्रदेश में निवास करते हैं। उन के सत्संग और सम्भाषण से लाभ उठाने के उद्देश्य से गार्गी उस वन में गई और उन के एक शिष्य से उन के दर्शन करने की आज्ञा मांगी। शिष्य ब्रह्मज्ञानी के पास गार्गी का सन्देश लेकर गया और लौट कर कहा—मेरे गुरु जी संन्यासी हैं और स्त्री का दर्शन नहीं करेंगे।

गार्गी ने मुस्कराते हुए कहा—अच्छा, अब मैं उन के दर्शन करना नहीं चाहती। शिष्य लौटकर गुरु जी के पास गया और गार्गी ने जो कुछ कहा था, वह उन को बतलाया। ब्रह्मज्ञानी को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें यह जानने की प्रबल उत्कण्ठा हुई कि जो व्यक्ति इतना परिश्रम कर के इतनी दूर चल कर आया था, उसे मेरे निषेध करने पर क्यों जरा भी निराशा नहीं हुई। ब्रह्मज्ञानी गार्गी के पीछे भागे और बोले—कहो देवि ! तुम तो मेरे दर्शनों हेतु इतनी दूर चलकर आई थीं फिर तुमने क्यों कहा कि तुम अब मेरे दर्शन करना नहीं चाहती हो।

गार्गी ने उत्तर दिया—महाराज ! मुझे खबर दी गई थी कि आप सच्चे ब्रह्मज्ञानी हैं और इसीलिये मैं आपके दर्शनों के लिए उत्कण्ठित थी। अब मुझे पता लगा, आप सच्चे ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं। ब्रह्मज्ञानी ने रोष में आकर कहा—देवि ! मैं सच्चा ब्रह्मज्ञानी नहीं हूं। यह तुम कैसे कह सकती हो ? गार्गी ने उत्तर दिया—इसलिए कि सच्चे ब्रह्मज्ञानी स्त्री और पुरुष के भेद भूल जाते हैं पर आप नहीं भूले हैं।

८. त्याग

शिवा जी महाराज अपने गुरु समर्थ रामदास के बड़े भक्त थे। उन्होंने सन् १६७३ में सतारा का दुर्ग जीतकर उस से ४-५ मील दूर पारली दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इसी पारली दुर्ग को सज्जनगढ़ (साधुओं का गढ़) नया नाम देकर शिवा जी ने वहीं अपने गुरु के लिए एक आश्रम बना दिया और स्वामी राम दास को वहीं लाकर रक्खा। संन्यासियों और भक्तों के भरण-पोषण के लिए निकट के गांव में देवोत्तर भूमि दी।

रामदास स्वामी अन्य संन्यासियों की भांति प्रतिदिन भिक्षा को निकलते थे, शिवा जी इस से हैरान थे। उन्होंने सोचा—गुरु जी को हम ने धन और ऐश्वर्य दान दिया। तब भी भिक्षाटन क्यों करते हैं? क्या ऐसा करने से उन के मन की तृष्णा मिटेगी। इसी विचार से उन्होंने दूसरे दिन एक कागज पर महाराष्ट्र का अपना सारा राज्य और समस्त राजकोष का दान पत्र रामदास स्वामी के नाम लिखकर उस पर अपनी मुहर लगा दी और भिक्षा के रास्ते पर गुरु को पकड़ कर उस दानपत्र को उन के चरणों में अर्पित कर दिया।

रामदास उसे पढ़कर मन्द मुस्कान के साथ बोले—अच्छी बात है वह सब हम ने ले लिया। आज से तुम हमारे गुमाश्ता मात्र रहे। अब यह राज्य तुम्हारे भोग-विलास और मनमानी करने की वस्तु न रहा। तुम्हारे ऊपर एक बड़ा मालिक है, उसी का यह राज्य है। जिसे तुम उस के विश्वासी नौकर के रूप में चला रहे हो। इसी दायित्व के विचार से आगे राज-काज चलाना। गुरु के ये वाक्य सुनकर शिवा जी के शरीर में रोमांच हो गया, हृदय गद्गद हो गया। उन के मुख से एक भी शब्द न

निकला और प्रेम से विह्वल हो गुरु के चरणों में लोट गये। कुछ क्षण-उपरान्त बोले—महाराज ! मुझे आप की आज्ञा शिरोधार्य है। आज मैं एक अपने बड़े दायित्व की मुक्ति में सुख अनुभव कर रहा हूं। आज से यह राज्य आपका हुआ और आज ही इस राज्य की पताका 'गेरुआ' रंग की निश्चित की जाती है।

यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ।

[ऋ० १। ४५। १]

(घृतप्रुषम्) तेजस्वी (स्वध्वरम्=सु+अध्व+रम्) उत्तम मार्ग-दर्शक (मनुजातम्) मनुष्यों का निर्माण करने वाले (जनम्) मनुष्य के साथ (यज) संगति कर।

लोक में प्रसिद्ध है कि मनुष्य अपनी संगति से पहचाना जाता है। वेद कहता है—ऐसे मनुष्य की संगति करो जो उत्तम मार्ग बताने वाला हो, मनुष्यों को बनाने वाला हो, बिगाड़ने वाला न हो और तेजस्वी हो, मरियल, कान्तिहीन न हो।

१. हिंसा पर अहिंसा की विजय

कौशाम्बी के महाराज उदयन की तीन रानियां थीं। उन में से एक श्यामवती महाराज बुद्ध के उपदेशों को सुन कर उन की अनन्य भक्त बन गई। सब से छोटी मागन्धी नाम को रानी श्यामवती से बड़ा द्वेष रखती थी। उस ने महाराज को उस के प्रति मन फेरने के लिए अनेक यत्न किये, परन्तु वह सफल न हुई। प्रतिदिन महात्मा बुद्ध और श्यामवती को अनेक प्रकार से लांछित और अपमानित करने की चेष्टाएँ की जाती थीं। परन्तु उस का मनोरथ पूर्ण न हो पाता था। अन्त में जब महात्मा बुद्ध और उनका संघ कौशाम्बी से न टला, उधर श्यामवती का कोई अनिष्ट सिद्ध न हुआ तो मागन्धो ने एक दिन वन के मुर्गे मंगवा कर महाराज से कहा—महाराज! श्यामवती मुर्गों का मांस बहुत अच्छा पकाती है। महाराज ने रानी की बात सुनकर मुर्गे श्यामवती के यहां भिजवा दिये और कहला भेजा, 'आज मैं वहीं भोजन करूंगा। ये मुर्गे श्यामवती मेरे लिए पकायें। श्यामवती ने उस दिन अनेक प्रकार के व्यंजन महाराज के लिए बनाये और जब महाराज उदयन उस के महल में भोजन के लिए गए तो रानी ने सब कुछ परोस कर उन के आगे रखा। महाराज मुर्गों का मांस न देखकर आग बबूला हो गये। क्रोध के मारे उन का शरीर कम्पायमान हो गया। उन के नौकर-चाकर और प्रहरी भी भय के मारे कांपने लगे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानो एक महान् भयंकर अनिष्ट होने वाला है। महाराज उदयन ने कड़क कर श्यामवती से पूछा—मुर्गों का मांस कहां है? श्यामवती ने विनीत भाव से महाराज के चरण छुए और स्नेह-स्निग्ध, कोमल वाणी से बोली—महाराज! क्षमा करें। आप

के सब मुर्गों को मैंने छोड़ दिया हैं। मैं जीव हिंसा न करूंगी। जैसा मुझे दुःख होता है वैसा अन्य प्राणियों को भी होता है। फिर इस अधम पेट के लिए कौन बुद्धिमान् पुरुष प्राणी हिंसा करना पसन्द करेगा। ये वाक्य महाराजा उदयन के मर्म पर जाकर लगे। जो कुछ व्यंजन सामने रखा था उसी को खाकर वे अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। उस दिन से उन्होंने राजमहलों में मांस भक्षण बन्द करा दिया।

विभूतिरिस्तु सूनृता। [ऋ० १। ३०। ५]

[विभूतिः] ऐश्वर्य, संपत्ति [सूनृता] मीठी [अस्तु] हो।

ऐश्वर्य की प्राप्ति, उपयोग तथा उपभोग इस प्रकार करना चाहिए जिस से वह किसी के दुःख का हेतु न बने।

卐 । 卐

—०—

卐 । 卐

१०. उपदेश का फल

कौशाम्बी के महाराज उदयन की तीन रानियों में श्यामवती की एक दासी खुजुहारा नाम की थी। एक दिन महात्मा बुद्ध एक माली के घर जिसके यहां से प्रतिदिन पुष्प जाया करते थे; भिक्षा मांगने गये। माली ने महात्मा बुद्ध को ससंघ बड़े प्रेम से भिक्षा दी और उनके सद् उपदेशों को श्रवण किया। दैवयोग से उपदेश के समय खुजुहारा नाम की दासी भी वहां उपस्थित थी। उपदेश का उस पर भारी प्रभाव पड़ा, उस दिन पुष्प लेकर प्रासाद में देर से गई, श्यामवती ने देर से आने का कारण पूछा। पुष्प लेने जब गई तो महात्मा बुद्ध माली के घर पर भिक्षा के लिए पधारे, उन का उपदेश सुनने लगी, इस से आज देर हो गई है। रानी ने फूल अधिक देखे। रानी ने पूछा—पुष्प अधिक क्यों लाई। दासी ने हाथ जोड़कर कहा कि महारानी की जय हो! नित्य मैं मूल्य का आधा स्वयं ले लेती थी पर आज मैं कुल मूल्य का फूल लाई हूं। उपदेश सुनकर मैंने प्रतिज्ञा की है कि आज से अब चोरी, असत्य भाषण, हिंसा आदि न किया करूंगी। उन्हीं के उपदेश-रत्नों का यह फल है। दासी का उत्तर सुनकर श्यामवती रानी अति प्रसन्न हुई और एक बहुमूल्य आभूषण दासी को उसके अद्भुत परिवर्त्तन पर उपहार स्वरूप भेंट किया।

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः। (ऋ० १०।३७।२)

एक सत्य व्रत के धारण करने से मनुष्य सब बुराइयों से बच जाता है। इसीलिए मनु जी ने कहा है—न हि सत्यात् परो धर्म्मः=सत्य से उत्तम कोई धर्म्म नहीं है।

११. नास्तिक से आस्तिक

एक लड़का भक्त प्रह्लाद की तरह आस्तिक था और उस का पिता हिरण्यकशिपु की तरह नास्तिक था। जब कभी पिता-पुत्र में ईश्वर-विषय पर बातचीत होती तो पिता यही उत्तर देता, कि 'तू हम से पैदा हुआ है या हम तुझ से पैदा हुए हैं, तू हमें क्या सिखलायेगा।' मूर्ख लोगों के पास बस, यही बड़ी दलील होती है। एक दिन लड़के ने साहस किया—कि चाहे कुछ भी हो, पिता को आस्तिक बनाकर ही छोड़ूंगा। यह दृढ़ निश्चय करके पुत्र ने एक काम किया कि जहां पिता जी बैठा करते थे। उन के पैड पर 'नालायक, मूर्ख, उल्लू' आदि अपशब्द लिख दिये। पिता के आने के समय होने से पुत्र की हृदय गति और तेज होने लगी। पिता जब मेज पर आये और लिखे शब्दों को देखकर क्रोध में आकर बोले—यह तेरा ही काम है, तूने यह क्या लिखा है? पुत्र ने कहा—पिता जी आप किस बात पर नाराज हो रहे हैं। पिता जी ने कहा कि यह तूने गालियां क्यों लिखी हैं? पुत्र ने कहा—पिता जी! मैंने नहीं यह कागज और पेन्सिल ने ही तो लिखी हैं। आप कैसे कहते हैं कि तेरे सिवाय कोई नहीं लिख सकता। बस, इसी बात पर दोनों में झगड़ा हो गया। पिता ने कहा—क्या वे स्वयं लिख सकती हैं, पुत्र ने कहा—यदि कलम जरा सी खड़ी हो जाये और हिल जाये तो बस, लिख गई। पिता ने कहा—भला कभी ऐसा भी हो सकता है? पुत्र ने कहा—फैसला हो गया। यदि यही है तो क्या यह सूरज और चांद क्या स्वयमेव चल रहे हैं या उन्हें कोई चला रहा है। पिता अवाक् रह गया और पुत्र को छाती से लगा लिया।

१२. मेरी बेंत कहाँ गई

एक दिन श्री पं० रामचन्द्र जी देहलवी आर्यसमाज की मीटिंग में जाने को तैयार थे तो छड़ी लेने चले, वह वहां नहीं मिली। चारों तरफ ढूंढा, फिर भी नहीं दीखी, तब उन्होंने अपनी पुत्री से पूछा—बेटी, मेरी छड़ी कहां है मिल नहीं रही है। लड़की ने कहा कि पिता जी यहीं कहीं होगी, या बच्चों ने बन्दर भगाने के लिए उठा ली होगी और इधर-उधर रख दी होगी।

पंडित जी ने अपने दौहित्र से बुलाकर पूछा कि बेटे छड़ी कहां है। बच्चे ने दूसरे भाई की ओर संकेत कर के कहा—नाना जी मैंने नहीं ली, इस ने उठाई होगी। दूसरे बच्चे ने भी नाना जी को नकारात्मक उत्तर देकर कहा कि इस ने उठाई होगी। मैंने नहीं ली।

पंडित जी—विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने उत्तर दिया कि बच्चो—तुम्हारी मां ने भी छड़ी नहीं ली और तुम दोनों ने भी न ली और न देखी कि कहां रखी गई। मैंने भी छड़ी नहीं ली है। आश्चर्य की बात है कि आज छड़ी हम सब को बिना बताये इधर-उधर क्यों और कहां चली गई। मालूम पड़ता है कि छड़ी की आदत खराब हो गई है जो बिना बताये चली गई है। यह बात सुन कर दोनों बच्चे बड़े जोर से हंस पड़े और बोले कि नाना जी छड़ी तो बेजान वस्तु है। वह अपने आप कैसे जा सकती है जब तक कोई दूसरा व्यक्ति उसे न उठा कर इधर-उधर करे। छड़ी अपने आप कहीं नहीं जा सकती है। पंडित जी बच्चों की इस बात को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए कि जड़ वस्तु स्वयं नहीं जा सकतीं, जब तक कोई उसे न उठाये। इसी प्रकार इस प्रकृति को भी जब तक कोई हरकत न देवे स्वयं कुछ नहीं कर सकती।

१३. अद्भुत परिवर्तन

वैशाली के कुछ भद्रवर्गीय कुमार एक वैश्या को साथ लेकर वन में विहार करने के लिए गये। उन्होंने कई दिन पर्यन्त विहार किया। एक दिन रात को अत्यधिक मद्य पीने से उन्मत्त होकर पड़े थे। किसी को अपने की सुध-बुध भी न रही। वेश्या अवसर पाकर उन के रत्न-आभूषण तथा धन लेकर चली गई। प्रातः काल होश में आने पर उन्हें उस घटना का बोध हुआ और वे सब दुःखी होकर पागलों की तरह उस वेश्या को इधर-उधर ढूंढने लगे। ढूंढते-ढूंढते मार्ग में उन की महात्मा बुद्ध से भेंट हुई। वे बुद्ध को जानते न थे। उन्होंने सम्पूर्ण वृत्तान्त बतलाकर उन से पूछा कि उन्होंने उस स्त्री को जाते हुए देखा है या नहीं। महात्मा बुद्ध उन की मूर्खता पर हंसे और कहा—कुमारो ! तुम उस स्त्री को व्यर्थ ढूंढते हुए क्यों फिर रहे हो। इस पर कुमारों को बड़ा रोष आया और वे बोले—बाबा ! तुम भी बड़े विचित्र जान पड़ते हो। हमारे घर में आग लगी है आपको उस पर आनन्द आता है। हमारा माल चोरी गया और चोर को तलाश करने को व्यर्थ प्रयास बतलाते हो। महात्मा बुद्ध ने गम्भीर होकर कहा—कुमारो ! मैं ठीक कहता हूँ। तुम लोगों को उस वेश्या के ढूंढने के स्थान पर अपनी आत्मा को ढूंढना चाहिए। जो तुम खो चुके हो।

इस उत्तर को सुनकर वे बड़े आश्चर्य चकित हुए और चुप-चाप वहां से चले गए। मार्ग में कोई किसी से न बोला। महात्मा बुद्ध के वे शब्द मन में उद्वेलित होने लगे। साथ ही वे सब महात्मा के पास लौट आये। सब ने मिलकर पूछा—महात्मन् ! आप कौन हैं ? आपकी मधुर-भर्त्सना ने हमारे ज्ञान नेत्र खोल दिये।

हैं। इसी बीच महात्मा बुद्ध का एक शिष्य उनके निकट आ गया था। वह इस व्यवहार को देखकर मन्त्रमुग्ध एक ओर खड़ा था उस ने कहा— कुमारो ! तुम जानते नहीं हो, यह महात्मा बुद्ध हैं। महात्मा बुद्ध का नाम सुनते ही वे सब उन के चरणों में गिर गये और आत्म ग्लानि से भरे हुए स्वर में बोले—महाराज ! आप हमें अपनी शरण में लेने की दया कीजिये। सचमुच हम अपनी आत्मा को खो चुके हैं। आप के उपदेश ने हमें इस बात का बोध करा दिया है। उसी क्षण दैवयोग से वह वैश्या भी उधर से आ निकली। वह वृक्षों की ओट से यह सब घटना देख रही थी। उस ने महात्मा बुद्ध के चरणों में वह सब सामान रखकर प्रार्थना की। महाराज इस पतिता का भी उद्धार करें। महात्मा बुद्ध ने मुस्कराकर कहा—कि कुमारो ! अपना सामान ले लो, तुम्हारा चोर स्वयं उपस्थित हो गया है। कुमार चुप हो गये, भावावेश से उन का हृदय आर्द्र हो गया। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—आप हमें लज्जित न करें, यही आपसे प्रार्थना है। महात्मा बुद्ध ने वेश्या को सम्बोधित करके कहा—तुम यह सामान ले जा सकती हो। वेश्या ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज ! मैं अपने को आपके चरणों में अर्पित कर चुकी हूं। आपकी दिव्य ज्योति ने मेरे भी ज्ञान-चक्षु खोल दिये हैं। आप मुझ पर दया का हाथ रखिये। मैं भी अपनी आत्मा को जान गई हूं। महात्मा बुद्ध ने इन सब की प्रार्थना पर कुमारों तथा वेश्या को संघ में सम्मिलित कर लिया। इन सब ने अपना शेष जीवन—अहिंसा, अस्तेय, सत्य-प्रेम के प्रसार में लगा दिया।

यच्छुभं याथना नरः। [ऋ० १।२३।११]
मनुष्य को सदा सुमार्ग पर चलना चाहिए।

१४. न्याय

महाराज शिवा जी के पिता साहा जी ने दादा कोंडदेव नामक एक सज्जन को शिवा जी के बाल्यकाल में उनका संरक्षक नियुक्त किया था। वे बहुदर्शी···विलक्षण, संयमी, न्याय परायण और राजनीति विशारद थे। उन का ग्राम पहले उन्हीं की जमींदारी में था परंतु काल चक्र से साहा जी के अधिकार में आ गया था। उन के कार्य से सन्तुष्ट होकर साहा जी ने उस ग्राम का प्रबन्ध दादा जी को सौंप दिया था। दादा कोंडदेव ने बहुत पहले उस गांव में एक बाग लगाया था। यथासमय जब उस बाग के आम्र वृक्षों पर फल लगने लगे तो उन्होंने एक फल खा लिया। परन्तु तुरन्त ही उन्हें-आत्मग्लानि हुई, दादा जी बहुत दुखी हुए। प्रायश्चित्त स्वरूप उन्होंने अपना दाहिना हाथ काट देना चाहा, जिससे वह फल तोड़ा था। लोगों ने इसका कारण पूछा—दादा जी ने कहा—इन फलों पर स्वामी साहा जी का आधिपत्य है। मेरा कोई भी अधिकार नहीं है। मैंने बिना आज्ञा के फल तोड़-कर बड़ा अनर्थ किया है। इस पर लोगों ने उन्हें समझा-बुझाकर हाथ काटने से रोका।

तब दादा जी ने हाथ नहीं काटा परन्तु उस हाथ से आजन्म कोई काम नहीं किया।

ऋतं स्मर। [य० ४०। १५]

अपने किए हुए कर्मों को स्मरण करने से मनुष्य बुराई से बच सकता है।

१५. ब्रह्मचारी की विजय

स्वामी दयानन्द मथुरा नगरी में पधारे। मथुरा के पण्डे उन से बुद्धि बल से बात न कर उन को नीचा दिखाने की युक्ति सोचने लगे। जिस से सर्वसाधारण की दृष्टि में स्वामी जी गिर जायें। विचार विनिमय के बाद उन सब ने एक स्त्री को साधन बनाया जो कि भ्रष्टाचार के लिए प्रसिद्ध थी। उस को कहा गया कि यदि तू किसी रीति से स्वामी दयानन्द को कलंकित कर सके तो जो तू मांगेगी, हम वह देंगे। उस ने इस घृणित कार्य को करने के लिए ५०० सौ रुपये मांगे, जो पण्डों ने स्वीकार कर लिये।

परंतु उस ने कहा कि आभूषणों के रूप में पेशगी लूंगी, पंडों ने पेशगी देकर उसे विदा किया। वह बन-ठन कर उन आभूषणों को धारण कर प्रातः काल ही स्वामी जी जहां ठहरे थे, उस स्थान पर आई। पंडे लोग बाहर ठहरे रहे। स्वामी जी के पास जाने पर कोलाहल करने का अवसर मिलेगा। परन्तु स्वामी जी महाराज समाधि में थे। उस स्त्री ने स्वामी जी के ब्रह्मचर्य की चर्चा सुनी हुई थी। इस बात का चिन्तन कर वह वापस आ गई और बोली मैं कुछ नहीं कर सकती, मुझे तो भय लगता है। उन्होंने उपहास की बातें करके पुनः साहस दिया, और वह अन्दर गई, परन्तु समाधि न खुली थी। उस के मन में न जाने क्या संकल्प-विकल्प उत्पन्न हो रहे थे। कुछ देर के पश्चात् वह आभूषण उतारने लगी। स्वामी जी ने आंखें खोलीं तो स्त्री को देखकर आश्चर्यचकित हो बोले—तुम यहां कैसे आ गई हो। वह वेश्या हाथ जोड़ सिर नवाकर रो-रो कर कहने लगी। महाराज क्षमा करो!

मैं पापिन धनादि के लिए अपना धर्म गवांती रही। अब भी आभूषणों के बदले में हत्यारी स्वार्थियों के बहकाये में आ गई। परंतु यहां आप के दर्शन कर मेरी मति बदल गई। ये सब आभूषण आप के अर्पण हैं। मेरे पाप को क्षमा करें। स्वामी जी ने कहा—हमें इन आभूषणों की इच्छा और आवश्यकता नहीं, तू इन्हें ले जा और अपने काम में लगा—हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि इस समय तुझे जो सुमति आई है, वही तेरी आयु पर्यन्त-स्थिर बनी रहे।

व्रतं कृणुत। (य० ४। ११)

[व्रतम्] शुभ कर्म्म करने का व्रत नियम [कृणुत] करो।

मनुष्यों को भले कर्म्म करने का नियम लेना चाहिए; बुरे का नहीं।
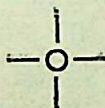
१६. आचार्य शंकर और दरिद्र ब्राह्मणी

शंकर जिस समय गुरु गोविन्दपाद के आश्रम में विद्याध्ययन करते थे। उस समय की प्रथा के अनुसार ब्रह्मचारी ग्रामों में भिक्षा के लिए जाया करते थे। एक दिन शंकर सदा के अनुसार एक ग्राम में पहुंचे। ग्राम में अनेक जातियों के आदमी रहते थे। शंकर का यह स्वभाव था कि वे प्रायः दरिद्रों के यहां ही भिक्षा मांगने जाते थे। उन को धारणा थी कि विशाल अट्टालिकाओं वाले धनिक, सदाचारी व धर्मपरायण नहीं हैं तथा न्याय और परिश्रम से धन उपार्जन नहीं करते। अतः उन के धनोपार्जन में पाप और अन्याय का अंश अधिक है। उन लोगों का अन्न खाने से बुद्धि तामसिक हो जाएगी, सात्त्विकता नष्ट हो जायेगी। इस धारणा के अनुसार वे सदा दरिद्र गृहस्थों के यहां ही भिक्षा मांगने जाया करते थे और जो कुछ भी मिल जाता था, उसे बड़े सन्तोष एवं प्रसन्नता से ग्रहण कर लेते थे। उस दिन भी वे एक दरिद्र ब्राह्मण के घर भिक्षार्थ गये। वह गृहस्थ ब्राह्मण स्वयं भी भिक्षावृत्ति कर जीवन निर्वाह करता था। शंकर के पहुंचने पर वह ब्राह्मण भी भिक्षा के लिए बाहर गया हुआ था। घर म केवल उस की ब्राह्मणी बैठी घर का काम-काज कर रही थी। शंकर ने 'भिक्षां देहि' कहकर आवाज दी। गृहिणी ने भी बालक ब्रह्मचारी को देखा और उस के देवोपम-प्रशस्त ललाट एवं तेज को देखकर मुग्ध हो गई। भक्ति पूर्वक अभिवादन कर बैठने के लिए आसन देने लगी। शंकर बोले—मैं विद्यार्थी हूं, माता मैं भिक्षा के लिए आया हूं, बैठने हेतु नहीं। केवल मुट्ठी भर भिक्षा लेकर चला जाऊंगा, दया कर भिक्षा प्रदान करें! बालक शंकर की सुन्दर-मधुर-वाक्यावलि सुनकर वह विचलित हो गई। दरिद्र पति की पत्नी, जिसके घर में भिक्षा के लिए मुट्ठी भर अन्न तक

नहीं, दूसरे घर में पति भी उपस्थित नहीं ? क्या करना चाहिए वह स्थिर न कर सकी। किंकर्त्तव्यविमूढ़ नारी की स्थिति को शंकर ने समझा। दरिद्र ब्राह्मणी की असमर्थता को देखकर, नहीं मां नहीं। चिन्ता मत करो, मैंने जान लिया है कि आज भिक्षा देने को कुछ नहीं है, फिर कभी सही ? दरिद्र होकर भी तुम हृदय रखती हो, यह क्या कुछ कम सम्पद् है। धन न होने पर भी तुम परम धनवती हो।

शंकर की बात सुन रमणी बोली—वत्स ! मैं और क्या कहूं, मेरे स्वामी भी भिक्षा वृत्ति करके ही गृहस्थी चलाते हैं। धर्म-अनुशीलन और धर्म अर्जन ही उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य है। अन्य साधुओं की भांति धनोपार्जन कर सम्पत्ति खड़ी करना यह मेरे पति का काम नहीं है। जो मिला उसी से सन्तुष्ट रहते हैं और भगवान् भजन में लीन रहते हैं। वे स्वभावतः संसार से विरक्त और धर्मपरायण हैं।

श्रमसाध्य धन हेतु ही मैं तुम्हारे घर आया था, तुम सद्-गृहस्थ हो। अपवित्र धन मनुष्य को पशु बना देता है। सदुप-देश देकर शंकर जब घर से चलने लगे, तब गृहिणी ने कहा—वत्स ! तुम को क्या भिक्षा दूँ, समझ में नहीं आता है। खाली हाथ लौटाना भी उचित नहीं। पति देव अभी आते ही होंगे, उस में से तुम्हें भी देकर कर्त्तव्य का पालन निभाऊंगी। यह सुन शंकर बोले—समयाभाव है। आप थोड़े चावल ही दे दो। कुछ न हो तो जल या फल ही दे दो। तुम मेरी मातृस्थानीया हो, जो भी भिक्षा में दोगी, मैं उस से परम सन्तुष्ट होकर चला जाऊंगा।

शंकर की मधुर वाणी सुनकर गृहिणी परम सन्तुष्ट हुई और घर में जाकर एक हरीतकी ले आई और शंकर की झोली में डाल दी। शंकर भी सन्तुष्ट होकर मङ्गल कामना करते हुए वहां से चल पड़े।

१७. प्रभु का चमत्कार

महात्मा गुरु नानकदेव जी महाराज बनारस में गंगा के तट पर डेरा डाले हुए थे। उन्होंने एक ब्राह्मण को छोटे छोटे बर्त्तनों में उबलते हुए दूध में चावल डालते हुए देखा। यद्यपि उस समय दिन था, फिर भी उसने पास में चिराग जला कर रख रखा था। गुरु नानक ने उससे पूछा—भाई! यह तुम क्या कर रहे हो। ब्राह्मण ने कहा—मैं यह चीजें पूर्वजों के लिए बना रहा हूं। नानकदेव जी ने पूछा—फिर यह दीपक क्यों जला रखा है? उत्तर में कहा—कि स्वर्ग में जाने के लिए मार्ग में जो अन्धकार है, उस में रास्ता दिखाने के लिए जलाया हुआ है। नानकदेव बोले—मित्र! क्या जब तुम सोते हो और भिन्न-भिन्न स्थानों के स्वप्न देखते हो तो क्या मार्ग देखने के लिए तुम्हें चिराग की आवश्यकता होती है।

ब्राह्मण ने कहा—नहीं। म० नानक बोले—निश्चय रखो तुम्हारा यह चिराग तुम्हारे पूर्वजों के लिए व्यर्थ है। ब्राह्मण ने पूछा—तो बताओ कि मनुष्य को क्या करना चाहिए। म० जी ने उत्तर दिया कि शरीर ही चिराग है और इन्द्रियों से उत्पन्न दुःख इस में तेल है। परमात्मा की उपासना से इसे जलाओ! और इस से जो ज्वाला उठेगी। वह इस तेल को जला देगी। फिर परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे।

सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता। [ऋ० ७।३२।१२]

ज्ञानी की सेवा से मनुष्य के भीतर ज्ञान का दीपक जलता है, जिस के प्रकाश से वह बुराइयों के अन्धकार को भगा सकता है।

१८. त्यागी ब्राह्मण

महाराजा रणजीतसिंह जी किसी समय फिल्लौर पधारे और वहां उन्होंने ब्रह्मभोज किया। समीपवर्त्ती गावों के लोग उस यज्ञ में सम्मिलित हुए। जिस समय भोजन का समय हुआ तो महाराजा ब्राह्मणों के पग धोने लगे। उस समय लुधियाना निवासी एक ब्राह्मण आया जो अधिक विद्वान् न होते हुए भी पढ़ा हुआ था और मन-त्याग से भरपूर था। शीत ऋतु के कारण उस के पग फट गये थे। फटने के कारण वे ठीक तरह से धोये भी नहीं जा सकते थे। जब महाराज उसके पैरों को धो रहे थे तो उस की बुरी अवस्था देखकर महाराजा के मुख से वचन निकला—क्या यह भी ब्राह्मण के चरण हैं? इस शब्द को सुनकर उस देवता ने अपने चरण पीछे खींच लिये और निम्न शब्द उच्चारण करके अपने घर को चला गया। महाराज, आप वेश्याओं के पैर धोने वाले हैं। आप को क्या पता है ब्राह्मणों के पग कैसे होते हैं? ऐसा कहकर वह ब्राह्मण विना भोजन खाये घर को वापस चला गया।

महाराज ने बहुत ही समझाया, अनुनय-विनय की कि भोजन कर लें, पर उस त्यागी ब्राह्मण ने फिर भोजन स्वीकार नहीं किया।

जुहोत प्र च तिष्ठत। [ऋ० १।१५।९]

[जुहोत] त्याग करो [च] और [प्रतिष्ठत] प्रतिष्ठा पाओ।

प्रतिष्ठा की प्राप्ति त्याग से होती है।

११. वैश्या से भिक्षुणी

आम्रपाली नाम की एक वैश्या वैशाली नगर में रहती थी। एक बार महात्मा बुद्ध अपनी शिष्य मण्डली के साथ वैशाली पधारे। आम्रपाली को महात्मा बुद्ध के आगमन से इतना हर्ष हुआ कि उस ने दूसरे दिन भगवान् की सेवा में उपस्थित होकर ससंघ अपने यहां भिक्षा करने के लिए आमन्त्रित किया। म० बुद्ध ने उसका सच्चा भाव देखकर निमंत्रण स्वीकार कर लिया। जब इस का पता वैशाली के राजा को चला, तब वे म० बुद्ध के पास पहुंचे और आम्रपाली का निमंत्रण अस्वीकार करने की प्रार्थना की और कहा—'महाराज! आम्रपाली का निमन्त्रण स्वीकार करने से हमारी और आपके गौरव की हानि है। आप हमारे यहां भिक्षा ग्रहण करने का अनुग्रह कीजिये। म० बुद्ध ने कहा— राजन्! मैंने आम्रपाली का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है, आप उसे अस्वीकार करने की प्रेरणा न करें। म० बुद्ध के उत्तर से राजा बहुत दुखी हुए और उन्हें आम्रपाली का निमत्रण अच्छा न लगा। उन्हें ज्ञात न था कि विद्वान् और महात्मा लोग किसी का तिरस्कार नहीं करते हैं, वे उन के भाव को देखते हैं। उन का लक्ष्य पतितों का उद्धार और लोगों को सन्मार्ग पर लाना होता है।

अगले दिन विविध सवारियों के साथ ससमारोह आम्रपाली म० बुद्ध को अपने यहां लाने के लिए उनके यहां उपस्थित हुई। म० बुद्ध आम्रपाली के घर गये। घर पर म० बुद्ध का भारी अभिनन्दन किया गया। बुद्ध और उन की शिष्य मण्डली वहां आम्रपाली का वैभव देखकर चकित रह गये। संघ का विविध व्यञ्जनों से सत्कार करने के पश्चात् एक सुसज्जित कक्ष

में बैठाया और स्वयं आरती एवं तिलक की तैयारी में लग गई। कुछ क्षण के पश्चात् आम्रपाली भिक्षुणी के वेश में आरती का सामान हाथ में लिये हुए भगवान् के समक्ष उपस्थित हुई।

आम्रपाली के इस परिवर्त्तन को देखकर सब अवाक् रह गये। वह महात्मा के चरणों में बैठकर बोली—महाराज ! इस पतिता का उद्धार करें। अब मैं आप की शरण में हूं। भगवान् बुद्ध ने उसे आशीर्वाद देकर संघ में दीक्षित होने की आज्ञा दे दी।

आम्रपाली के इस अकस्मात् परिवर्तन की समस्त नगर में चर्चा फैल गई। सब ने ही म० बुद्ध को तथा उसे बधाई दी।

ऋतस्य पदं कवयो निपान्ति। [ऋ० १०।५।२]

(कवयः) ज्ञानी (ऋतस्य) सत्य के (पदम्) पद की (नि+पान्ति) निरन्तर रक्षा करते हैं।

सत्य क्या है, इस को ज्ञानी जन ही जानते हैं। वही सत्य के मूल वेद की रक्षा करते हैं।
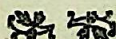
२०. जीवनमुक्त दण्डी

विश्व विजय की यात्रा पर निकले महान् सिकन्दर जब भारत वर्ष में आया और तक्षशिला में ठहरा हुआ था, तब एक दिन उसने ब्राह्मण समाज के अग्रणी महामहिम दण्डी को बुलाने के लिए अपना व्यक्ति भेजा। उसने दण्डी के पास जाकर कहा, युपिटर के पुत्र, मनुष्य जाति के अधीश्वर महान् सिकन्दर ने तुम्हें शीघ्र ले आने का आदेश दिया है। उन के पास यदि तुम जाओगे तो पुरस्कार मिलेगा अन्यथा अवमानना के लिए प्राण दण्ड दिया जायेगा।

तृण शय्या पर सोये हुए महामहिम दण्डी के कान में जिस समय ये शब्द पड़े। उस समय उन्होंने उसी तरह लेटे-लेटे हंस-कर उत्तर दिया जगत् के अधीश्वर-परमेश्वर द्वारा जगत् में किसी का अनिष्ट नहीं होता। वे कभी हत्या को प्रश्रय नहीं देते और न युद्ध ही चलाते हैं।

तुम्हारा सिकन्दर परमेश्वर नहीं है, उन्हें भी एक दिन मरना ही पड़ेगा। सिकन्दर ने मुझे जिस प्रकार का प्रलोभन दिया है, उस का मेरे लिए कुछ भी मूल्य नहीं है। मेरी शय्या और कुटी के पत्ते मौजूद हैं। वृक्ष के फल-मूल से मेरी क्षुधा और इस अंजलि द्वारा जलपान कर पिपासा निवृत्त हो जाती है। तुम्हारे सिकन्दर मेरा मस्तक काट लेने पर भी मेरी आत्मा को अपने वश में नहीं कर सकते और मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र परित्याग कर देता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा इस शरीर को त्याग कर नया शरीर धारण कर लेगी। पृथ्वी पर आकर उस की आज्ञानुसार हम चलते हैं या नहीं, इसी बात की परीक्षा के लिए उस परमेश्वर ने हम लोगों को पृथ्वी पर भेजा है।

तुम सिकन्दर से जाकर कहो कि जिन्हें स्वर्ग की आकांक्षा हो जो सम्पत्ति लाभ के लिए अकार्य को कार्य समझकर, कर डालते हैं और सदा मृत्यु भय से व्याकुल रहते हैं, वे ही तुम्हारे इस भय प्रदर्शन से डर जायेंगे।

जीवन-मुक्त दण्डी का यह उत्तर सुनकर सिकन्दर दण्डी के दर्शन करने हेतु व्याकुल जंगल में गया और दण्डी के दर्शन कर के कृतार्थ हुआ।

सूरा अण्वं वितन्वते। [ऋ० ६। १०। ५]

(सूराः) ज्ञानी (अण्वम्) सूक्ष्म को (वितन्वते) विस्तृत करते हैं।

ज्ञानी का कर्त्तव्य है कि वह सूक्ष्म बात को विस्तारपूर्वक खोलकर समझाये।

———

२१. उपदेश का अधिकार

एक बार एक स्त्री अपने लड़के को लेकर गुरु नानकदेव जी महाराज के पास गई। उस लड़के के सारे शरीर पर फोड़े-फुन्सी निकली हुई थीं, जिन के कारण वह बहुत दुखी था। वह गुड़ बहुत खाता था और उसकी इस आदत के छुड़ाने में माता-पिता सफल नहीं हुए थे उस स्त्री ने नानकदेव जी से कहा—महाराज ! आप इस लड़के की आदत छुड़वा दें। महात्मा ने कुछ क्षण सोचकर कहा—देवि ! तुम चार-पांच दिनों के बाद इस लड़के को लेकर आना, स्त्री ने ऐसा ही किया। महात्मा ने लड़के को पुचकार कर कहा, बेटा ! इस गुड़ के कारण ही तुम्हें इन फोड़े-फुन्सियों से कष्ट उठाना पड़ रहा है। तुम इस आदत को छोड़ दो। तुम्हें शान्ति मिल जायेगी, यह सुन स्त्री ने महात्मा से कहा—महाराज ! यह बात तो आप उस दिन भी कह सकते थे। आज कहने से क्या विशेष बात हो गई है। महात्मा ने उत्तर दिया, देवि ! उस दिन मैंने उत्तर इसलिये नहीं दिया, क्योंकि मैं स्वयं गुड़ खाता था। मैं जब स्वयं गुड़ खाने का अभ्यासी हूं तो मुझे इस लड़के को उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है और न मेरा उपदेश प्रभावशाली हो सकता है। उस के दूसरे दिन से ही मैंने भी स्वयं पहले गुड़ का परित्याग किया। अपनी वाणी में बल लाने के निमित्त ही मैंने चार-पांच दिन का अवसर मांगा था। महात्मा की यह बात सुनकर वह स्त्री अति प्रभावित हुई और महात्मा के उपदेश से उस लड़के ने अपनी आदत छोड़ दी फिर स्वस्थ हो गया।

२२. अंगुलिमाल

एक दिन भगवान् बुद्ध भिक्षा के लिए कहीं जा रहे थे। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि आजकल देश में अंगुलिमाल से जनता बड़ी त्रस्त है। म० बुद्ध जब उधर से निकले तो अंगुलिमाल ने उन्हें तंग करने के संकल्प से पुकार कर कहा—हे भिक्षु ! खड़े रहो। म० बुद्ध न ठहरे। उसने बारम्वार रुकने को कहा। म० बुद्ध उपेक्षा भाव से चलते ही रहे। अंगुलिमाल बड़े रोष से बोला—ठहरते क्यों नहीं। म० बुद्ध ने उत्तर दिया कि इस संसार में उत्पन्न हुई सभी वस्तुएँ चल रही हैं और सबसे अधिक तुम चल रहे हो। म० बुद्ध की बात अंगुलिमाल के हृदय पर छू गई। उसके नेत्र खुल गये। वह उन के चरणों में गिर पड़ा। म० बुद्ध ने उसे अपने संघ में दीक्षित कर भिक्षु बना लिया।

उस दिन सायंकाल को श्रावस्ती का राजा दर्शन के लिए आया। तब उसने अंगुलिमाल के पकड़ने की बात कहकर म० बुद्ध से आशीर्वाद मांगा और उस ओर चल पड़ा। म० बुद्ध राजा को देखकर हंस पड़े और बोले—राजन् अंगुलिमाल तो आप के पास ही बैठा है। आप किसे पकड़ने जाइयेगा। राजा इस अद्-भुत परिवर्तन को देखकर अत्यन्त विस्मित हो वहां से अपने प्रासाद को पधारे। हृदय परिवर्त्तन से आतंकित जनता से भय दूर कर शान्ति स्थापित हुई।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।

(य० ३६। २२)

भगवान् के निर्मित संसार में हमें कहीं भी भय न हो।

२३. सेवा का उच्च भाव

चैतन्य महाप्रभु एक समय अपने शिष्यों और अनुयायियों के साथ बंगाल के एक नगर में गये और एक वाटिका में आसन जमाया। नगर के लोग उनके दर्शनों के लिए आने लगे। उन्होंने इन आने वालों से एक प्रश्न किया कि तुम्हारे नगर में सब से अधिक नीच व्यक्ति कौन है? प्रत्येक ने एक ही उत्तर दिया कि मघई नाम का एक व्यक्ति उन के नगर में सब से अधिक बुरा और प्रायः सभी के लिए कष्टों का कारण है। महात्मा चैतन्य ने अपने दो शिष्यों को भेजा कि जाओ मघई को बुला लाओ। दोनों शिष्य मघई के पास गए। वह उस समय अपने किसी मित्र के साथ शराब पी रहा था। जब शिष्यों ने गुरु का सन्देश उसे दिया तो उस ने खाली बोतल उस के ऊपर दे मारी। सिर में चोट लगने से घाव हो गया, खून निकला। शिष्यों ने गुरु के पास आकर इस बात की घटना सुना दी। गुरु ने अपने आठ दस शिष्यों को भेजा कि जाओ यदि मघई खुशी से न आये तो उसे पकड़ कर ले आओ। इस प्रकार पकड़ कर लाया गया मघई चैतन्य के पास पहुंचा। चैतन्य ने एक गुदगुदा गद्दा बिछवा दिया। मघई को उसी गद्दे पर लिटाया गया। वह सोच रहा था कि उसे दण्ड मिलेगा, परन्तु देखता क्या है चैतन्य उसके पैरों के पास बैठ गये और उन्होंने अपने हाथ उस के पैर पर इस प्रकार रखे कि जैसे कोई किसी के पैर दबाता हो। मघई घबराकर बैठ गया, उसका हृदय उलट-पलट हो गया और वह चैतन्य के हाथों को पैर से हटाकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से चैतन्य से कहने लगा—महाराज! मैं बड़ा पातकी हूं। मैंने अनेक अपराध किये हैं। आप ने क्यों मेरे अपवित्र शरीर को छूकर अपने हाथों को अपवित्र किया। अब यह मघई पहला मघई नहीं रहा था।

२४. रामानन्द और अन्त्यज

गुरु रामानन्द के शिष्यों में एक अन्त्यज भी था। इस के साथ होने से उनका एक शिष्य जो ब्राह्मण था, बड़ा असन्तुष्ट रहता था। एक दिन वह गुरु के पास जाकर बोला—महाराज! इसे यहां से निकाल दो। रामानन्द ने इन्कार कर दिया कि यह बड़ा गरीब है, केवल इसे अन्त्यज होने के कारण मैं नहीं निकाल सकता हूं। क्या तुम्हें इसके विरुद्ध कोई शिकायत है। शिष्य ने कहा नहीं पर यह अन्त्यज है क्या यह पर्याप्त नहीं है? गुरु बोले परमात्मा की दृष्टि में कोई अन्त्यज नहीं है। ब्राह्मण शिष्य ने कहा कि यह जायेगा अन्यथा मैं चला जाऊंगा। आप इन दोनों में से क्या पसन्द करते हैं? गुरु बोले—मैं अन्त्यज को अपने यहां रखूंगा। मुझे दुख है कि तुम यहाँ से जाना अपना कर्तव्य समझते हो। तुम्हें दूसरा गुरु मिल जायेगा, परन्तु उसे नहीं मिलेगा। अतः उसे मुझे अपने पास रखना चाहिए। इस पर शिष्य चला गया और उस के कट्टर पंथी शिष्य, जो उसे भड़काया करते थे, बड़े प्रसन्न हुए और प्रशंसा की। एक-दो दिन ब्राह्मण शिष्य की बड़ी वाह-वाह आस-पास होती रही, पर निःसार होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो गई। गुरु के पास से चले जाने के १५-१६ दिन बाद ही लोग उसे भूल गये। एक मास बाद गांव वालों ने रामानन्द के साथ शिष्यों को एक उत्सव में आमन्त्रित किया, उस में वह अन्त्यज भी था।

ब्राह्मण शिष्य को नहीं आमन्त्रित किया गया, कहीं गुरु

रामानन्द-अपना आना अस्वीकृत न कर दें। इस घटना से ब्राह्मण शिष्य का भ्रम दूर हो गया। साथ ही उसे सत्य का भी आभास हो गया। वह गुरु के पास गया। चरणों में गिरकर भूल की क्षमा मांगी। गुरु रामानन्द ने तत्काल उसे क्षमा कर दिया।

❁

पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्। (ऋ० ४।५०।१)

(विप्राः) ज्ञानी (मन्द्रजिह्वम्) आनन्द देने वाली जिह्वा को, मधुर वाणी वाले को (पुरः) सामने (दधिरे) धरते हैं।

ज्ञानी मधुर वाणी वाले को अपना आदर्श बनाते हैं। परमात्मा से बढ़ कर कोई भी मधुर उपदेश नहीं देता। अतः ज्ञानी जन उस को सदा अपने सम्मुख रखते हैं।

卐 | 卐
—○—
卐 | 卐

२५. सात्त्विक दान

प्रेमसिंह नामक फौज का एक हिन्दुस्तानी अफसर छुट्टी पर अपने घर जा रहा था। वे अपनी उदारता और दानशीलता के लिए बड़े प्रसिद्ध थे। रास्ते में एक नदी पड़ी, वहां विश्राम करने के लिए बैठ गये। वहां पर एक ब्राह्मण सन्ध्या कर रहा था। ब्राह्मण की सन्ध्या समाप्ति पर अफसर ने उस का परिचय पूछा, विप्र ने उत्तर दिया, प्रेमसिंह के पास जा रहा हूं। मैं निर्धन हूं, कन्या के विवाह के लिए उन से कुछ द्रव्य की याचना करूंगा। सुनते हैं वे बड़े दयालु और दानी हैं। अफसर ने कहा—वे इस समय छावनी में नहीं हैं, वे छुट्टी पर अपने घर गये हैं, तुम्हारा छावनी में जाना व्यर्थ है। इस उत्तर को सुनकर विप्र बड़ा निराश हुआ और बोला—क्या आप को उन के गांव का नाम विदित है, मैं वहीं जाकर उन से मिलने का प्रयत्न करूंगा। प्रेमसिंह ने कहा—मुझे उन के गांव का नाम ज्ञात नहीं है। यह सुन कर वह और अधिक दुःखी हुआ और उठकर चल दिया। प्रेम सिंह ने तत्काल अपनी ओर से सौ रुपया निकाल कर उस के हाथ में दिया और कहा—जाओ, अपनी कन्या का विवाह करो। विप्र ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए रुपये लेकर बोला, आप का परिचय क्या है। प्रेमसिंह चुप रहे। ब्राह्मण के बार-बार पूछने पर भी अपना परिचय नहीं दिया। ब्राह्मण मन ही मन उन्हें आशीर्वाद देता हुआ चला गया। सचमुच यह सर्वोत्कृष्ट दान है।

❁

अक्रन् कर्म्म कर्म्मकृतः सह वाचा मयोभुवा। (य० ३।४७)

परोपकार आदि कर्म्म करते हुए मनुष्य को मीठी सुखदायी वाणी बोलनी चाहिए।

२६. तांबे से सोना

एक वार एक राजा घोड़े पर चढ़ कर शिकार को जा रहा था। मार्ग में उसने देखा कि एक साधु वन में बिल्कुल अकेला बैठा हुआ है। न उसके पास खाने का सामान और न पहनने के लिए कपड़ा है। राजा को उस की दशा पर दया आई और एक सेवक को पांच रुपये देकर कहा—जाओ साधु को दे आओ। सेवक जब साधु को रुपये देने गया तो साधु ने कहा कि किसी कंगाल को दे आओ। सेवक ने सारी बात बतला दी, तब राजा ने पुनः २५ रुपये लेकर भेजा, इस पर भी साधु ने वहो उत्तर दिया। राजा ने कई वार अधिक से अधिक रुपया लेकर भेजा। लेकिन साधु ने यह कह कर कि किसी कंगाल को दे आओ धन लौटा दिया।

अब की बार राजा ५ लाख रुपया लेकर साधु के पास स्वयं गये। साधु ने उन्हें भी वही उत्तर दिया। राजा ने कहा—महाराज! आप से बढ़कर और कंगाल कौन हो सकता है? आप के पास रहने को झोंपड़ा नहीं, खाने को अन्न और पहनने को वस्त्र नहीं हैं। साधु बोला हम कंगाल नहीं हैं—

हम तो रसायन बनाना जानते हैं, यदि चाहें तो सोने के पर्वत बना दें। यह उत्तर सुन राजा लज्जित होकर चला गया, जब रात को सोने लगा तो ध्यान आया कि यदि इस साधु से सोना बनवा लेते तो एक-दो देश ही विजय कर लेते। यह सोच कर राजा—आधी रात को ही साधु के पास गया।

साधु ने पूछा कौन! मैं राजा हूं और अपने आने का प्रयोजन बताया। साधु बोला—यह काम एक दिन में नहीं सिखाया

जाता । रोज आया करो, सीख जाओगे । राजा ने इसे स्वीकार कर प्रतिदिन दो घण्टे साधु के पास आना प्रारम्भ कर दिया । साधु—राजा को नित्य प्रति धर्मोपदेश करता और ज्ञान की बातें सिखाता । एक वर्ष में राजा बड़ा धर्मात्मा और ज्ञानी हो गया ।

उस में इतनी निस्पृहता आ गई कि सारे संसार का राज्य उसे तुच्छ लगने लगा । साधु भी उस के आचार-विचार के परिवर्त्तन से अति प्रसन्न हुआ और उसे जब पूर्ण रूप से विश्वास हो गया कि राजा को अब पूरा ज्ञान हो गया है तो एक दिन उस ने हंसी में कहा—कि कल तुम बहुत सा तांवा लाओ, हम सोना बना देंगे । राजा ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज ! जिस तांबे को सोना बनाने की आवश्यकता थी, वह तो सोना बन गया । अब मुझे धातु के तांबे को सोना बनाने की जरूरत नहीं रही ।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयत ।

(अ० १० । ८ । १५)

पूर्ण ज्ञानी का सत्सङ्ग मनुष्य को ज्ञानी बना कर उस का सर्वत्र वास बना देता है । अज्ञानी, अनाड़ी का सङ्ग मनुष्य को पहले ही गिरा देता है । अतः अपने से उत्तम का सङ्ग करना चाहिए । अपने से घटिया का सङ्ग नहीं करना चाहिए ।

---

२७. निर्धनों की सेवा प्रभु की सेवा

एक बार एक राजा ने संगमरमर का बहुत सुन्दर मन्दिर बनवाया। राज्य की सब से भव्य इमारत बनाने के उद्देश्य से उस ने उस पर लाखों रुपया खर्च किया। परन्तु उस ने आज्ञा दी कि मन्दिर में कोई निर्धन व्यक्ति प्रवेश न करे। कुछ समय के पश्चात उस नगर में एक महात्मा जी आये और एक वृक्ष के नीचे अपना आसन जमाया। हजारों व्यक्ति दर्शनों और सत्संग के लिए प्रतिदिन उनके पास आने लगे। राजा का मन्दिर उजाड़ और सुनसान देख-पड़ने लगा। राजा ने घोषणा की कि जो व्यक्ति मन्दिर में आकर पूजा-अर्चना करेगा, उसे लाखों रुपये भेंट किये जायेंगे। इस पर तनिक भी लोगों ने ध्यान नहीं दिया। अन्त में निराश हो गया और निराश होकर राजा ने साधु से भेंट की और कहा—मैंने एक भव्य मन्दिर बनवाया है, इस पर मेरे लाखों रुपये व्यय हुए हैं। यह बड़ा सुन्दर है। पधार कर उस में प्रार्थना-उपासना किया करें। साधु ने उत्तर दिया, तुम्हारे मन्दिर में लाखों रुपये लगे हैं पर वह सुन्दर नहीं है। क्योंकि उस में भगवान का निवास नहीं है। वह तो निर्धनों के झोंपड़े में रहता है और उनको तुमने मन्दिर-प्रवेश से रोक दिया।

अब जब तक तुम निर्धनों को उस मन्दिर में प्रविष्ट होने और इस प्रकार उसे पवित्र करने की व्यवस्था नहीं करोगे, तब तक तुम्हारे मन्दिर मे प्रवेश नहीं कर सकता।

२८. नरसी मेहता और अछूतोद्धार

गुजरात के प्रसिद्ध भक्त कवि नरसी मेहता एक अच्छे जन-प्रिय व्यक्ति हुए हैं। उन्होंने अपने गीतों के द्वारा समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर किया। महात्मा गांधी जी का प्रिय गीत जिसे प्रायः उन की प्रार्थना व सभाओं में गाया जाता है, इन्हीं नरसी मेहता का है।

वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीर पराई जाणे रे ॥

वे बड़े समाज सुधारक और छुआछूत के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने स्नेह व भाई-चारे का शुभ सन्देश दिया था। दलितों का हरिजन नाम उन्होंने ही दिया था। आज से पांच सौ वर्ष पहले के समाज में बराबरी का दर्जा देकर बड़े साहस का काम किया। इसके लिए उन्हें कट्टर पंथियों का कोप-भाजन भी बनना पड़ा।

दुःख में भी नरसी मेहता अपनी राह से कभी विचलित नहीं हुए। इकलौते पुत्र की मृत्यु हो गई, अभी संभल भी न पाये थे कि उनकी पत्नी माणिक गौरी बीमार पड़ गई। एक शाम पत्नी ने कहा—मेरी तबियत ठीक नहीं है, आज कहीं मत जाओ, नरसी बोले—हरिजनों की बस्ती में कीर्तन का बुलावा है, नहीं जाने पर उन्हें बड़ी निराशा होगी।

बीमार पत्नी को छोड़कर वे रात भर-हरिजनों के साथ भजन-कीर्तन करते रहे। प्रातः घर देर हो जाने के बाद लौटे तो देखा—कि पत्नी माणिक का देहावसान हो चुका था। नरसी ने यह दारुण दुःख भी बड़े धैर्य से सहन किया।

सवर्ण हिन्दू तो उन दिनों हरिजनों की छाया से भी बचते थे। अछूतों की बस्ती में जाने के कारण सवर्णों ने नरसी को जात-

तथा बिरादरी से भी बाहर कर दिया था। सामाजिक-समारोहों और प्रीतिभोजों में उन्हें-आमन्त्रित नहीं किया जाता था। पर इस से नरसी मेहता जरा भी विचलित नहीं हुए। वे विना भेद-भाव के सबसे मिलते और भाई-चारे की शिक्षा देते रहते। उन्हीं से प्रेरणा लेकर महात्मा गांधी ने छुआछूत के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया।

त्वे अपि क्रतुर्मम। (ऋ० ७। ३१। ५)

[त्वे] तेरे निमित्त [अपि] ही [मम] मेरा [क्रतुः] ज्ञान और कर्म हो।

हे ज्ञानभण्डार! सबसे बड़े कर्मठ भगवन्! ऐसी कृपा कीजिये, मेरे ज्ञानों तथा कर्मों का तू आधार हो। तेरे लिये जिऊं, तेरे लिए चलूं, फिरूं, तेरे लिए चेष्टा करूं।

—o—
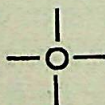
२१. सार्वजनिक जीवन की शुद्धता

विश्व के इतिहास में रूस के म० लेनिन का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। वे रूस की राज्य क्रान्ति के अग्रगण्यों में से थे। जिस समय रूस की बागडोर उन के हाथ में थी। उस समय के उनके जीवन की एक सुन्दर घटना मिलती है। एक दिन लेनिन ने राजकर्मचारियों तथा नगर के भद्र पुरुषों को चाय के लिए आमन्त्रित किया। चाय बनाने का आदेश भी अपनी पत्नी को दिया, चाय तैयार हुई, और लाकर धर्मपत्नी ने मेहामानों के सामने रखी। वह संकोच वश चाय देकर पीछे लौट गई। म० लेनिन उनके संकोच को समझ गये और उनसे कहा कि चिन्ता की कोई बात नहीं, चाय में चीनी नहीं डाली गई है फोकी चाय ही सही। यही मेहमानों को दी जाय। आज्ञा का पालन किया गया, दूसरे दिन एक धनी व्यक्ति ने यह विचार करके कि लेनिन के घर में चीनी का अभाव है, एक बोरी चीनी लेनिन के घर भिजवा दी। लेनिन की स्त्री बड़ी प्रसन्न हुई और लेनिन से कहा—देखो, परमात्मा ने बिना मांगे स्वयं चीनी भेज दी है। धर्मपत्नी की इस बात पर लेनिन बड़े ही मुस्कराये और आज्ञा दी, इस चीनी के बोरे को सरकारी भण्डार में जमा करा दो। इस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। यह राज्य की सम्पत्ति है। यह सुनकर लेनिन की धर्मपत्नी बहुत ही आश्चर्य चकित रह गई और लेनिन के इस धर्म भाव की सर्वत्र नगर-गांव में चर्चा फैल गई। लेनिन ने विश्व के इतिहास में, अभाव की पूर्ति में, विषमता से समता लाने में, गरीब-अमीर के भेद भाव के मिटाने में अपनी अमिट छाप छोड़ी है। रूस ही नहीं, विश्व का मानव आज उनके इस ऐतिहासिक परिवर्तन लाने में सदा-सदा स्मरण करता रहेगा। रूस की राज्य-क्रान्ति इसका प्रमुख उदाहरण है। जिसका विश्व अनुसरण करता जा रहा है।

३०. मातृभक्ति

महात्मा लिंकन एक साधारण मजदूर से अमेरिका के राष्ट्रपति के उच्च पद पर पहुंचे थे। ऐश्वर्य, सम्मान और चरित्र बल होते हुए भी उन के मुख पर सदैव एक प्रकार की उदासी छाई रहती थी। वे प्रायः हंसते थे, मनोविनोद करते थे। परन्तु निकट से देखने वालों पर उनकी उदासी प्रकट हो रही थी और उन के लिए वह उदासी एक गूढ़ पहेली बनी हुई थी।

एक दिन वे राज-प्रासाद में अकेले बैठे कुछ चिन्तन कर रहे थे कि अवसर पाकर बड़े घराने की एक महिला उन के पास आई। नैतिक शिष्टाचार के बाद उस ने कहा—

राष्ट्रपति ! मेरी एक जिज्ञासा है। क्या आप कृपा करके उस का समाधान कर सकेंगे ?

राष्ट्रपति ने उत्तर दिया। देवि ! आप अपनी जिज्ञासा प्रकट करें। देवि ने कहा—महात्मन्। संसार की समस्त विभूतियां आपके चरणों में लोटती हैं। सम्मान और ऐश्वर्य से उपलब्ध होने वाला संसार का ऐसा कोई सुख नहीं, जो आप को प्राप्त न हो। दास-प्रथा को मिटाकर आप जीवन के उद्देश्य तक भी पहुंच चुके हैं। फिर आप के मुख पर उदासी क्यों ? इस का कारण समझ में नहीं आता।

यह सुनकर म० लिंकन ने गहरा श्वास लिया, उन के नेत्रों में आंसू आ गये। रुधे हुए कण्ठ से बोले—देवि ! यदि आप यह प्रश्न न करतीं तो अच्छा होता। जब मैं छोटा था तब ही मातृ-स्नेह से वंचित हो गया था। मेरी माता बडी साध्वी और धर्म परायणा महिला थीं। उन के चरणों में बैठकर मैंने यह

सीखा था कि पहले दूसरों का विचार करो और बाद में अपना ख्याल करो। मेरे जीवन में जो कुछ अच्छापन दीख पड़ता है उसका एक मात्र श्रेय मेरी माता का है। ऐसी अच्छी माता के बचपन में ही वियोग हो जाने से मैं उसी समय से दुखी रहता हूं और मेरा दुःख जीवन के साथ ही समाप्त होगा। देवी! तुम नहीं जानती, अमेरिका में मैं सबसे अधिक सुखी व्यक्ति समझा जाता हूं। परन्तु अमेरिका में सब से दुखी मुझ सा कोई व्यक्ति न होगा। यह कहते-कहते महात्मा लिंकन का गला भर आया और वे आगे कुछ न कह सके। यह उत्तर सुनकर वह महिला शान्त हो गई और महात्मा लिंकन की मातृभक्ति की मन ही मन भूरि-भूरि प्रशंसा करती-वहां से विदा हुई।

विश्वायुर्धेहि यजथाय देव। (ऋ० १०।७।१)

हे [देव] भगवन्! [विश्वायुः] सम्पूर्ण जीवन [यजथाय] यज्ञ के लिए [धेहि] धारण करा।

हे भगवन्! ऐसी कृपा करो जिस से हमारा सारा जीवन यज्ञमय हो। भले मनुष्यों की संगति करें, भले कर्म करें।

---

३१. मानवता का आदर

नैपोलियन बोना पार्ट विजित राजाओं से राजभक्ति का आश्वासन लेकर उनका राज्य प्राय: वापस कर दिया करता था। एक बार योरुप का एक विजित राजा नैपोलियन के शत्रुओं से जा मिला और विद्रोह कर दिया। उस राजा के इस व्यवहार पर नैपोलियन को बड़ा क्रोध आया और विश्वासघात का दण्ड देने के निमित्त उसकी राजधानी पर आक्रमण कर दिया। उस राजधानी के नर-नारी नैपोलियन के बल वीर्य और रोष को जानते थे। उसकी विशाल सेना को देखकर वे भयभीत हो गये और इधर-उधर छिपने लगे। राजा भी भयभीत होकर राज परिवार के साथ किसी अज्ञात स्थान को भाग गया और अपने एक बीमार राजकुमार को राजमहल में छोड़ गया। राजा के भाग जाने का समाचार जब नैपोलियन को मिला, तो उसने राजमहल को तोपों से उड़ा देने की आज्ञा दे दी। यह आदेश पाते ही तोपों ने आग-उगलनी शुरू कर दी। अपने प्राणों की रक्षा करने के लिये बीमार राजकुमार इधर-उधर भागने लगा। राजमहल के सब द्वार बन्द पाकर उसे जीवन की आशा जाती रही और वह चारपाई पर जा पड़ा।

इसी बीच नैपोलियन को पता चला कि राजकुमार बीमार असहायावस्था में महल के भीतर पड़ा हुआ है। नैपोलियन ने आक्रमण रोकने की तुरन्त आज्ञा दी। आदेश को सुनकर सेना-पति को आश्चर्य और बड़ा रोष पैदा हुआ। वह नैपोलियन से मिला और बोला—आपने यह ठीक नहीं किया इससे सेना का उत्साह भंग होगा। क्षमा करें! आपके इस कृत्य से सैनिक विधान का अपमान होता है।

नैपोलियन ने कहा—सेनापति ! मैं सैनिक विधान का तो अपमान कर सकता हूं। परन्तु मानवता का अपमान नहीं कर सकता। असहायों पर वीरता दिखलाना वीरों का काम नहीं है।

मनुर्भव। [ऋ० १०। ५३। ६]

[मनुः] मनुष्य [भव] बन।

मनुष्य का अर्थ है मननशील। जो मनुष्य सोचे समझे विना, मनन किये बिना कोई कार्य करता है, वह मनुष्य पद से गिर जाता है।

३२. संसार का प्रवाह

एक असहाय मनुष्य ने किसी धनी के पास जाकर कुछ याचना की। धनी मनुष्य ने देने के नाम पर नौकर से धक्के दिलवा कर उसे बाहर निकलवा दिया। कुछ काल-उपरान्त समय बदला। धनी का धन नष्ट हो गया। सारा कारोबार बिगड़ गया, खाने तक का ठिकाना न रहा। नौकर-चाकर छोड़ भागे। उसका नौकर एक ऐसे सज्जन व्यक्ति के हाथ पड़ा, जिसे किसी दीन को देखकर वह प्रसन्नता होती थी जो दरिद्र को धन से होती थी। एक दिन रात को इस धर्मात्मा के द्वार पर किसी फकीर ने आकर भोजन मांगा। उस ने नौकर को कहा—कि भोजन दे दो। नौकर जब भोजन देकर लौटा, तो उसके नेत्रों से आंसू बह रहे थे। स्वामी ने पूछा—क्यों रोता है? बोला—इस साधु को देखकर बड़ा दुःख हुआ, किसी समय मैं इस का सेवक था इसके पास धन-धरती सब था। आज इसकी यह दशा है कि भीख मांगता फिरता है।

स्वामी सुनकर हंसा और बोला। संसार का यही प्रवाह है।

मैं भी वही दीन मनुष्य हूं जिसे इस ने तुझ से धक्के दिलवा कर बाहर निकलवा दिया था।

यज्ञं नयताग्रे। [य० १। १२]

यज्ञ का अर्थ है श्रेष्ठतम कर्म्म। मनुष्य को चाहिए कि श्रेष्ठतम कर्म्म को आगे ले जाये, बढ़ाये, विस्तार करे।

३३. महाराणा प्रताप और भामाशाह

महाराणा प्रताप युद्ध में जाति और धर्म की रक्षा हेतु सम्राट अकबर से जूझ रहे थे। क्षत्रियों की महाशक्ति उस के सामने नत-मस्तक हो चुकी थी। केवल प्रताप उसके लिए एक चुनौती बने हुए थे। प्रताप रणक्षेत्र में पस्त थे, सेना बिखर चुकी थी, पैसा भी पास नहीं था। बच्चे खाने के लिए दाने दाने को तरस रहे थे। यह सब परेशानियां अकबर तक पहुंचीं, लेकिन वह भी प्रताप की आन-बान से प्रभावित था। मर जाना स्वीकार है, झुकना नहीं। ऐसी स्थिति में दोनों की बात बनी रहे। अतः उस ने महाराणा के पास यह सन्देश भिजवाया कि आप महान हैं जो अपनी बात पर अडिग हैं। ऐसा ही चाहिए परन्तु आप ऐसा करें कि मेरे महल के सामने से निकल कर, 'सलाम' कर लें तो मेरा झगड़ा समाप्त। यह फरमान जैसे ही प्रताप को मिला, परेशानियों में उलझा मानव भटक गया और उस ने दर पर जाकर सलाम करके सुखमय जीवन बिताने हेतु यह शर्त मान ली और अकबर के दरबार की ओर चल पड़े। मरता क्या न करता, घास की रोटी खाने को विवश बच्चे, उस रोटी को भी छीन ले जाये विलाव। तब और कोई चारा न पाकर प्रताप जैसे पराक्रमी इस शर्त के आगे झुके। अभी कुछ दूर ही गये थे कि मार्ग में सेठ भामाशाह से साक्षात्कार हो गया।

भामाशाह ने पूछा—किधर जा रहे हो ? महाराणा ने सारी आप बीती कह सुनाई। हिमालय जैसे अडिग व्यक्तित्व को जब विचलित पाया तो शाह का माथा ठनका और बोले—महाराणा सारे समुद्र को पार करने के उपरान्त किनारे पर ही डूबने को

रह गया था, शाह की बात को समझते प्रताप को देर न लगी। बोले—शाह ! तो बताओ क्या करूं ? शाह ने कहा—महाराणा ! यह जो धन दौलत कमाया है, वह किस दिन काम आयेगा। सेना एकत्रित कर अकबर का मुकाबला करो। मेरे पास इतना धन है कि २५ साल तक लड़ते रहोगे तो भी धन समाप्त नहीं होगा। इस उत्साह वर्धक प्रेरणाप्रद बात को सुन कर प्रताप ने अकबर को उत्तर दिया। अकबर सुन—

खाऊं न परतन्त्रता की स्वर्ण की इन थालियों में।
भले हैं स्वतन्त्रता के दोने-पात ढाक के॥
हम पर हो लंगोटी फटी, रानी पर हो धोती फटी।
बच्चे तरसें रोटी-रोटी, शीश न झुकाऊंगा॥

लिख कर अकबर को भेज दिया।

क्रत्वे दक्षाय नो हिनु। [अ० ६। ३६। ३]

हे प्रभो ! [नः] हमें [क्रत्वे] कर्म के लिए तथा [दक्षाय] उत्साह के लिए [हिनु] गति दे।

मनुष्य जिस भी शुभ कर्म्म को करे, उसे उत्साह के साथ करे।
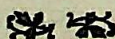
३४. राम वनगमन और भरत को राजगद्दी

रावण की विस्तारवादी नीति को देखकर वशिष्ठ आदि आठ मंत्रियों ने उस की बढ़ती को रोकने के लिए एक योजना बनाई कि महाराज दशरथ अशक्त और माया-मोह में ऐसे फंसे हैं कि वह युद्ध स्तर पर कार्य नहीं कर सकते। यदि राम को आगे लाया जाये तो महाराज मोह पाश में बंधे होने से उन्हें आगे नहीं आने देंगे। अतः एक उपाय समझ में आया—कि इन तीनों महारानियों म समझदार विदुषी राजनीति में निपुण यह कैकेयी है इसे समझाया गया और राष्ट्र पर आने वाले खतरे से सावधान किया गया। देश में धर्म, संस्कृति, समाज-व्यवस्था सभी संकट में हैं ऐसे समय में आप महाराज से आग्रह पूर्वक निवेदन करें। कैकेयी बोली—महर्षि वह क्या ?

राजर्षि बोले—इस समय राम की जरूरत है इन राक्षसों को समाप्त करने के लिए देश में भेजने की, पर महाराज इन्हें जाने नहीं देंगे। आप आने वाली परिस्थिति को समझें और विचार करें। महाराज राम को राजगद्दी देना चाहते हैं। भरत मामा के घर है। आप इन बातों पर चिंतन करें। एक ओर घर है, दूसरी ओर राष्ट्र को बचाना है। आप के लिए परीक्षा की यही कठिन घड़ी है। कैकेयी को सारी बात समझाकर विवाह के समय दो वचन मांग में शेष थे वह मांगने के लिए तैयार किया।

१—प्रथम राम को वनगमन १४ वर्ष के लिए तथा

२—भरत को राजगद्दी पर बैठाकर राजतिलक करें। यह महाराज दशरथ से कहा गया। इन बातों से कैकेयी ने महाराज से आश्वासन ले लिया। परन्तु दशरथ ने जब राम को १४ वर्ष

के बनवास की बात कही, राम पितृभक्त थे, पिता का आदेश पाकर वन जाने को तैयार हो गये, साथ में भगवती सीता तथा राम भक्त लक्ष्मण सेवा हेतु जाने को उद्यत हुए। इस विषम परिस्थिति में ही कैकेयी की परीक्षा थी कि विचलित न हो सके पिता के आदेश पर जब प्रस्थान किया तो राम ने सर्वप्रथम माता कैकेयी से मिलकर आदेश लिया। महाराज दशरथ की दशा चिन्तनीय थी, हालत बिगड़ी और महाराज मृत्यु को प्राप्त हो गये। दूसरी ओर भरत मामा के घर थे। सुमन्त्र को भेजा गया और निर्देश में कहा, कि वहां दशरथ के मरने, राम वनगमन की कोई चर्चा न कर, भरत को लाने की बात करें। ऐसा ही हुआ। सुमन्त भरत को लाये, भरत ने देखा कि अयोध्या सुन-सान पड़ी है। घर आकर माता ने सारी बात बताई। राम को १४ वर्ष का वनवास और तुम्हें राजगद्दी दी जायेगी। भरत ने जब सुना तो भाई राम के बिना मैं इस राज्य का क्या करूंगा और माता कैकेयी के व्यवहार पर बड़ा रोष प्रकट किया। पिता को मृत्यु पर राम को वापस पैरोल पर लाया जा सकता था। परन्तु राम को मरने की खबर तक न की गई, इधर दशरथ के क्रिया कर्म की तैयारी कर शान्ति यज्ञ किया गया।

भाई भरत को चैन कहां? भरत ने अयोध्यावासियों के साथ राम को वापस लाने को प्रस्थान किया। इधर जब राम को भरत के आने की सूचना मिली तो राम ने भाई भरत की अगवानी करके उन के आने का कारण पूछा। भरत मां के व्यवहार से दुःखी थे। अतः बोले—आप मेरे अग्रज हैं, आप ही राजगद्दी पर बैठेंगे मैं नहीं, परन्तु राम ने सारी बातें समझा-बुझा कर वापस किया लेकिन भरत की शर्त के साथ—मैं आपकी खड़ाऊं रख कर राज्य करूंगा। आप के आने पर राज्य आप के चरणों में

ही समर्पित होगा—

कैसा था यह भ्रातृ प्रेम। सत्ता फुटबाल की तरह ठुकराई जा रही है। इधर से भरत, उधर से राम ठुकरा रहे हैं। क्या ही अनुपम उदाहरण है आदर्श का। प्राण जाहिं पर वचन न जाहीं।

●

उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवनानि। (ऋ० ७। ८६। २)

(उत) और (स्वया) अपने (तन्वा) तन के साथ (संवदे) संवाद करता हूँ (तत्) कि (कदा) कब (नु) ही मैं (वरुणें-अन्तः) अन्तर्यामी भगवान् के ही आधार से (भुवनानि) रहने लगूंगा।

हे अन्तर्यामिन् मम स्वामिन्! मेरा आधार तू है। मैं अपने शरीर द्वारा तुझ से पूछता हूँ। तू मुझे बता कि मैं कब सब कुछ भुला कर तेरे भरोसे रहने लगूंगा।

—o—

३५. आत्मज्ञानी

एक बार शत्रुओं ने किसी देश पर आक्रमण किया। उस देश के नागरिकों ने वीरता से सामना किया, पर असफलता ही हाथ लगी। तब इन नागरिकों की मायूसी पर आक्रमणकारियों ने इतनी छट दी, कि तुम लोग अपने साथ जितना भी सामान ले जा सकते हो ले जाओ।

परिवार के प्रत्येक स्त्री, पुरुष, बच्चे अपने सिर पर और पोठ पर सामान लादे जा रहे थे। बोझ से कमर झुकी जा रही थी। गला सूख रहा था, वे सब हांफ रहे थे। परंतु उन्हीं के मध्य एक ऐसा भी व्यक्ति था, जिसके पास ले जाने को कोई सामान नहीं था। वह व्यक्ति अपने खाली हाथ, सिर ऊपर किये, छाती ताने हुए शान्ति पूर्वक भावभीनी मुद्रा में चला जा रहा था।

उस के साथियों ने व्यंग्यात्मक शैली में पूछा—क्या तुम्हारे पास सामान नहीं है जिसे ले जा सको। एक स्त्री ने करुणाई होकर कहा—ओह! बेचारा कितना गरीब है। उस के पास ले जाने को कुछ भी पास नहीं है।

बुद्धिमान्—दार्शनिक ने इस वाक्य को सुना और हंसा एवं मधुर-मुस्कान बिखेरते हुए उस आत्मज्ञानी ने कहा—अपने साथ में अपनी सारी सम्पत्ति ले चल रहा हूं। वह क्या?

१—शरीर रूपी-धन, २—आत्मा रूपी जीवन, ३—साहस रूपी शक्ति।

कविवर रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि—

हे ईश्वर! यह शरीर तेरा मन्दिर है। अतः मैं हमेशा पवित्र इसे अपने साथ रखूंगा।

आप ने मुझे यह हृदय दिया है। मैं इसे आप के प्रेम में भर दूँगा।

आप ने मुझे जो यह बुद्धि दी है, इस बुद्धि रूपी दीपक को हमेशा निर्मल और तेजस्वी रखूँगा। इन्हीं आकांक्षाओं एवं मनोभावनाओं के वशीभूत मैं खाली हाथ प्रभु दर्शन को जा रहा हूं। क्योंकि यहां जो दर्शन को विद्यमान है, सब उस परम पिता परमेश्वर का है। मैं तो एक प्रवासी हूं, कहता हुआ वह आत्मज्ञानी अपने गन्तव्य की ओर चला गया।

प्र०—वह शत्रु कौन हैं।

उ०—शत्रु कहीं बाहर नहीं, मन के भीतर ही घुसे हुए हैं। उन में पांच अति प्रबल हैं।

अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार।

इन शत्रुओं को मारकर ही आत्मा पर विजय पाई जा सकती है। कितना सुन्दर उपदेश उस आत्मज्ञानी का था। संसार का त्याग तथा वैराग्य मुक्त जीवन ही ज्ञान की पराकाष्ठा है।

मय्येवास्तु मयि श्रुतम्। (अ० १।१।२)

परमात्मन्! ऐसी कृपा करो कि मैंने जो सच्चा ज्ञान प्राप्त किया है, वह मुझ में बना रहे, नष्ट न हो पाये। मैं उसे भूल न जाऊं।

३६. शिव और दक्ष का वैर

महाराज दक्ष की कन्या सती का विवाह शिव जी के साथ हुआ था। महादेव देवताओं में श्रेष्ठतम थे और देवाधिदेव कहलाते थे। एक वार मरीचि आदि प्रजापतियों के यहां ये सभी देवता गण पधारे हुए थे। उसी यज्ञ में आमन्त्रित होकर दक्ष भी आये। उन की अभ्यर्थना में सारे के सारे देवता खड़े होकर स्तुति करने लगे। केवल देवाधिदेव—महादेव नहीं खड़े हुए। इस पर दक्ष प्रजापति बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने शिव जी को बहुत बुरी तरह से अपमानित करते हुए अपशब्द कहे और यहां तक रुष्ट हो गये कि जल लेकर शाप दिया कि इसे देवताओं के यज्ञ में भाग न मिले।

शिव जी महाराज तो चुपचाप बैठे रहे किन्तु उन के अनुयायी नन्दीश्वर ने दक्ष तथा उनके साथ हाँ में हाँ मिलाने वालों को अभिशाप दिया, जिसमें उन्होंने कहा कि दक्ष को कभी तत्त्व-ज्ञान न प्राप्त हो और दक्ष के ये अनुयायी सदा कर्म मार्ग में भटकते रहें। तब यज्ञ कराने वाले भृगु ने इस अभिशाप का प्रतिरोध किया और उल्टे शाप दिया कि शिव के आराधक जटाजूट वस्त्र धारण करने वाले एवं श्मशानों में भटकते रहें और उनके अनुयायी भूत-पिशाच-प्रेत रहेंगे। इस प्रकार शापों और प्रतिशापों से खिन्न होकर शिव लौट आये। यज्ञ को समाप्त करके सभी देवता खिन्न-मन होकर लौट आये। इस प्रकार बहुत समय बीता। तब ब्रह्मा ने दक्ष को सब प्रजापतियों का स्वामी बनाया। दक्ष ने शिव का तिरस्कार करने को वामदेव यज्ञ किया। इस के बाद बृहस्पति नामक यज्ञ किया। जिस में सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता, आमन्त्रित होकर आये। शिव की

पत्नी सती ने इस उत्सव में रंग-बिरंगी, वेश-भूषा में सभी को आकाश मार्ग से जाते हुए देखा। सती ने यह पता लगाया कि यह उत्सव उनके पिता के ही यहाँ हो रहा है। तब उन्होंने शिव से आग्रह किया कि यद्यपि पिता दक्ष ने शिव और सती को बुलाया नहीं है किन्तु पति या गुरु और माता-पिता के घर में बिना बुलाये जाने पर कोई हानि नहीं है। अतः चलना चाहिए, शिव ने इसका विरोध किया। सती पिता के घर चली। उन के साथ शिव ने कुछ गण भी भेज दिये। सती ने वहाँ पहुंच कर देखा कि किसी ने भी उनका स्वागत-सत्कार नहीं किया। यज्ञ में उनके पति शिव का कोई भाग नहीं। तब उन को अपने पति का असम्मान देखकर भयंकर क्रोध आया और उन्होंने देवाधिदेव शिव की महिमा कहते हुए दक्ष को उन का अपमान करने पर प्रताड़ित किया। इसके बाद सती ने ग्लानि, दुःख और क्रोध से अपने शरीर को योगाग्नि से जला डाला।

इस पर सब ओर हाहाकार मच गया, भेजे हुए जो रुद्रगण थे, उन्होंने यज्ञ में विध्वंस करना चाहा। तब भृगु ने यज्ञ में विघ्न रोकने के लिये एक और आहुति डाली। जिस से ऋभु नामक देवता यज्ञ कुण्ड से प्रकट होकर जलती हुई लकड़ियों से यज्ञ में बाधा डालने वालों को भगाने लगे।

रुद्र गणों ने जाकर शिव को सब समाचार बताया फिर तो शिव का सब रौद्र रूप जागृत हो गया। उन्होंने अपनी जटा के एक केश से महा प्रलयकारी वीरभद्र नामक रुद्र को जन्म देकर दक्ष के यज्ञ में विध्वंस के लिये भेजा।

वीरभद्र ने उस यज्ञ के ठाठ-बाट को क्षण-भर में ही मिट्टी में मिला दिया। दक्ष का सिर काट लिया, भृगु की दाढ़ी-मूछें उखाड़ लीं, पूषा के दांत तोड़ दिये। फिर सारे देवता अपनी-अपनी

सुरक्षा के लिए भाग खड़े हुए। इस तरह दक्ष के यज्ञ का विध्वंस हुआ। तब सभी देवता-ब्रह्मा और नारायण अपने को अगुआ बनाकर कैलाश पर्वत पर शिव जी से प्रार्थना करने के लिए गये। शिव तो आशुतोष थे, प्रसन्न हो गये। उन्होंने दक्ष को जीवित तो कर दिया किन्तु प्राकृतिक मुंह के स्थान पर बकरे का मुख लगा दिया। जिनके अंग-प्रत्यंग घायल हो गये थे, वे सब शिव की कृपा से ठीक हो गये। तब शिव ने दक्ष को यज्ञ के करने को फिर से कहा और पूर्ण करने का आश्वासन दिया। पुनः जीवित होने पर दक्ष को अपने कार्य पर पश्चात्ताप हुआ। उस ने शिव की महत्ता को स्वीकार किया और शिव को यज्ञ का यथोचित भाग मिलने लगा। सती ने हिमालय के घर में पार्वती नाम से जन्म लिया और तपस्या करके फिर शिव को पति के रूप में प्राप्त किया।

शमीभिर्यज्ञमाशत। (ऋ० १। २०। २)

(शमीभिः) शान्ति के साधनों के साथ (यज्ञम्) यज्ञ को (आशत) उपभोग करो।

यज्ञ का अनुष्ठान करते हुए यज्ञ का फल प्राप्त करते हुए सर्वथा शान्ति रखनी चाहिए।

३७. मनुष्य जीवन के दो भाग

मनुष्य जीवन दो भागों में विभक्त है। १—मृत्यु से पूर्व का तथा २—मृत्यु शय्या का। जब मनुष्य प्रथम भाग में होता है तब उसे कर्म करने की पूरी पूरी स्वतन्त्रता होती है, लेकिन जब वह मृत्यु शय्या पर होता है तब यह स्वतन्त्रता छिन जाती है। दूसरा भाग वस्तुतः पहले भाग का चित्र होता है। इस सम्बन्ध में दुनिया का अमल कैसा है, इसकी जांच के लिए हम ऐतिहासिक जगत में आते हैं।

कतिपय उदाहरण

१—महमूद गजनवी गजनी का राजा था। उसने भारत पर कई बार चढ़ाई की थी। उस के जीवन का उद्देश्य उचित और अनुचित किसी भी रीति से धन संग्रह करना था। उसने गजनी को सोने-चांदी से भर दिया था। यहां उस के जीवन का पहला भाग समाप्त होता है। अब दूसरे भाग मृत्यु-शय्या पर पड़ा देखते हैं। वह मरने से पूर्व सोने-चांदी के ढेर अपने सामने लगवाता है, उसे देखता है परंतु किसी प्रकार से भी वह उस ढेर को अपने साथ नहीं ले जा सकता है। जब मजबूरी देखी तो रो पड़ा और धन-दौलत दृष्टि मात्र से ही वह दुनिया से चला गया। जीवन पर्यन्त बनी दृष्टि के अनुसार ही अन्तिम समय में भी धन पर ही आत्मा लगी रही।

२—फ्रांस का राजा पीटर था। उन दिनों फ्रांस छोटी-छोटी रियासतों में बंटा था। एकतंत्र राज्य न था, पीटर धर्मात्मा व्यक्ति था। येरुशलम तुर्कों के अधिकार में चला गया था। यह वह समय था जब येरुशलम की प्राप्ति के लिये ईसाई लोग धर्म युद्ध कर रहे थे। पीटर भी येरुशलम की प्राप्ति हेतु

कई लड़ाइयां लड़ चुका था परन्तु सब में हार गया था। उसके जीवन का उद्देश्य येरुशलम की प्राप्ति थी। उस के जीवन का पहला भाग समाप्त हो चुका था। वह मृत्यु शय्या पर पड़ा था। उसे उस समय मुल्क की चिन्ता न थी। उत्तराधिकारी की भी न थी। चिन्ता थी तो केवल येरुशलम की। वह तीन बार येरुशलम की याद करते हुए दुनिया से प्रयाण किया। मृत्यु शय्या पर दुनिया के सामने उसके पूर्व भाग का पूरा-पूरा फोटो आ गया था।

३—महाराणा प्रताप सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त संघर्षरत रहे। चित्तौड़ और उदयपुर उन के हाथों से निकल चुके थे। उन्हें प्राप्त करने के लिये अनुपम त्याग किया। अकबर से युद्ध कर कर्त्तव्य का पालन किया और चित्तौड़ व उदयपुर प्राप्त करके ही दम लिया। यहीं जीवन का प्रथम भाग समाप्त होता है। वे मृत्यु शय्या पर पड़े थे। उन के सरदार निकट खड़े थे। उन्हें प्रताप में एक लोभी व्यक्ति की दशा देख पड़ रही थी ? सरदार परेशान थे, उन की समझ में नहीं आ रहा था, क्या बात है जिससे प्राण शान्ति से नहीं निकल पा रहे थे। सरदारों से कहा कि मुझे विश्वास दिलाओ कि मेवाड़ उसी प्रकार स्वतन्त्र रहेगा जैसे मैंने रखा है। उन्हें जब विश्वास मिला, तब प्राणों का निष्कासन हुआ। इसी प्रकार—

४—स्वामी दयानन्द का उद्देश्य था वेद प्रचार और प्रजा को आस्तिक बनाना। उन्होंने सब कष्ट इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सहे और हर प्रकार का उत्कृष्ट त्याग किया। वे मृत्यु-शय्या पर पड़े थे। लोग दूर दूर से देखने आये उनमें पं० गुरुदत्त भी थे। स्वामी जी सबको आंखों के पीछे कर देते हैं। पं० गुरु-

दत्त स्वामी जी का अन्तिम समय देखने को उत्सुक हैं। वे ऐसे जगह खड़े हो गये जहां से स्वामी जी को भली प्रकार देख सकें। मन्त्रोच्चारण, गायत्री-पाठ करते हैं। गुरुदत्त की दृष्टि स्वामी जी के चेहरे पर है। स्वामी जी प्रसन्न हैं। गुरुदत्त नास्तिक थे। प्राण त्यागने से पूर्व स्वामी जी के चेहरे पर एक मुस्कराहट आती है। इसी पर गुरुदत्त मुग्ध थे। बस यहीं से नास्तिकता तिरोहित होती है। स्वामी जी के अन्तिम स्मरण—'प्रभो ? तेरी लीला अपरम्पार है, तेरी इच्छा पूर्ण हो।' मृत्यु रूपी परीक्षा है। तैयारी के साथ सफलता जरूरी है।

सूरः पश्यति चक्षसा। (ऋ० ६। १०। ८)

(सूरः) ज्ञानी (चक्षसा) आंख से (पश्यति) देखता है।

पदार्थों का यथार्थ ज्ञान ज्ञानी को ही होता है। अन्य लोग वस्तु के तत्त्व को नहीं पाते।
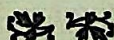
३८. मित्रता का भाव

आचार्य सन्दीपन के गुरुकुल में बहुत से विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। उनमें एक ऐतिहासिक महापुरुष—श्री कृष्णचन्द्र तथा गरीब ब्राह्मण सुदामा भी पढ़ा करते थे। दोनों में बड़ा प्रेम था। गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करके कृष्ण राजगद्दी पर बैठ, राज्य संभालने लगे और विप्र सुदामा गरीबी के दिन काटते हुए अपने दिन बिता रहा था। संकट के समय मित्र ही याद आते हैं। अतः सुदामा की पत्नी ने कहा कि तुम्हारे परममित्र श्री कृष्ण जी हैं। उनके पास जाओ तो तुम्हारी दीन दशा देखकर उन्हें तरस आ जाये और वह तुम्हारी सहायता कर दें। वैसे उन की बड़ी प्रशंसा किया करते हो तो वह किस दिन काम आयेगी। यह सुनकर सुदामा बोले—

मैं गरीब अवश्य हूं पर किसी के समक्ष जाकर दीनता नहीं दिखाऊंगा। कृष्ण मेरे परम मित्र हैं जरूर! परन्तु उन्होंने यदि मना कर दिया या कुछ व्यर्थ बोल गये तो क्या होगा? सुदामा की पत्नी ने कहा कि मैं समझूंगी कि तुम्हारी मित्रता बनावटी और धोखे की है। पत्नी की बात सुन कर सुदामा ने अप्रसन्नता प्रकट की और बोले, ऐसा मत सोचो। कृष्ण बड़े उदार और सौम्य हैं। अच्छा यह बताओ कि यदि मैं उनके पास जाऊ तो उन्हें क्या वस्तु भेंट स्वरूप लेकर जाऊं। घर में कुछ भी तो नहीं है। पत्नी बोली, यह चिन्ता न करो। एक मिलने वाले के यहां से मुट्ठी भर चावल मांग कर ले आई और सुदामा के दुपट्टे में बांधकर द्वारका के लिये प्रस्थान करा दिया। कृष्ण उन दिनों द्वारका में ही निवास करते गे।

सुदामा कृष्ण के निवास पर पहुंचे और द्वारपाल से कृष्ण

का घर पूछने लगे। द्वारपाल फटीचर व्यक्ति को देखकर हंसा, परन्तु उसने एक सीधे आदमी का समाचार लेकर कृष्ण को बताया। महाराज—

एक ब्राह्मण दीन, दुखी, फटे हाल, डंडा लिये, नंगे पैर, नंगे सिर बाहर आपका पता पूछ रहा है। अपना नाम सुदामा बताता है। इतना सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज नंगे पैरों जैसे थे वैसे बाहर मिलने भाग खड़े हुए और सुदामाजी को सीने से लगाकर, उन की दयनीय दशा देख कर के करुणानिधि रो पड़े।

सुदामा को अन्दर लाकर आसन दिया, हाथ पैर धुलवाकर शान्ति से बैठाया तथा जलपान कराकर, कृष्ण बोले—बताओ भाभी ने मेरे लिये क्या क्या चीज भेजी है। सुदामा पत्नी द्वारा दी गई वस्तु को ध्यान कर घबड़ाया किन्तु कृष्ण समझ गये और जो छिपी वस्तु बगल में दबाये थे। उसे कृष्ण ने देख लिया। फिर क्या था कृष्ण जी ने वह पोटली सुदामा से छीन ली और उसे खोल कर चावलों को बड़े प्रेम से खाने लगे। फिर मुस्कराकर बोले—मित्र! एक दिन गुरु गृह में हमें चने खाने को मिले थे। तुम ने खाये पर मुझे न दिये, यह तुम्हारी चोरी की पुरानी आदत अभी तक बनी हुई है। ऐसे ही भाभी के यह चावल भी छिपा रखे हैं।

द्वारिका में कई दिन निवास के बाद भी सुदामा को कुछ मांगने की हिम्मत न पड़ी। सुदामा जब कृष्ण से विदा लेकर घर लौटने लगे तो भी कृष्ण ने कुछ नहीं दिया। सुदामा भी अपने न मांगने पर सन्तुष्ट था कि अच्छा हुआ कि कुछ न मांगा मांगने पर न देता तो जिन्दा-मरण ही था। सच प्रभुता पाकर बड़े लोग छोटों को भुला ही देते हैं।

सुदामा द्वारका से लौटने के बाद घर पहुंचे, तो वहां अपनी कुटी न देखकर बड़ा भवन देख आश्चर्य चकित रह गये। कुटिया कहां गई। ब्राह्मणी का क्या हुआ, कहां गई ? अभी यह सोच ही रहे थे कि इतने में सुदामा की पत्नी सुन्दर वस्त्र धारण किये, आभूषणों से युक्त द्वार पर आकर बोली—

क्या देख रहे हो, यह सब करामात आपके पीछे आपके मित्र के आदमियों ने की है। घर भर कर फिर चले भी गये हैं। सुदामा करुणा निधि की कृपा का परिणाम देखकर पत्नी के साथ महल में चले गये। मित्रता का कैसा अनूठा उदाहरण है।

सखा सखायमतरद् विषूचेः। (ऋ० ७।१७।६)

(सखा) सखा=मित्र (सखायम्) सखा को=मित्र को (विषूचेः) संकट से (अतरत्) बचाता है।

सच्चा मित्र वही है जो अपने मित्र को संकट से सदा बचाता रहे।
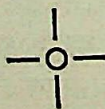
३१. सर्वजित यज्ञ

महाभारत काल में आचार्य द्रोण ने एक यज्ञ किया, जिसका नाम था "सर्वजित् यज्ञ" इस यज्ञ की विशेषता यह थी कि आचार्य नें सभी कुछ त्याग कर दान कर दिया था। अन्त में उन के पास एक गाय शेष थी; वह भी दान कर दी। अब पति पत्नी व पुत्र के अतिरिक्त कुछ भी शेष न था। एक दिन कौरव पुत्रों ने निश्चय किया कि हमारे साथ अश्वत्थामा भी पढ़ने आता है, इसके पिता ने हमें पढ़ाने से मना किया है। अतः इसे यहां से भगाया जाये। यह योजना बनी परन्तु क्रियान्वित बिना कारण के कैसे की जाये ?

इस का उपाय सुझाया गया कि जो विद्यार्थी दूध पीकर न आयेगा, वह साथ में बैठकर न पढ़ सकेगा। क्योंकि अश्वत्थामा के घर पर गाय तो है नहीं। जब गाय नहीं तो दूध कहां से पीनें को मिलेगा। बस फिर क्या था, प्रस्ताव स्वीकार हो गया और अगले दिन लागू हो गया। जैसे ही विद्यालय प्रारम्भ हुआ कि बच्चों ने यह प्रस्ताव जो पहले ही स्वीकारा हुआ था, पढ़कर सुनाया गया कि दूध पीकर कौन नहीं आया है। सभी ने हाथ पक्ष में उठाये किन्तु अश्वत्थामा चुप रहा तो उस से पूछा गया तो उसने गाय न होने पर दूध पीने से मना कर दिया।

अश्वत्थामा विद्यालय से बाहर हो घर आया। माँ नें असमय में ही आने का कारण पूछा। बच्चे ने पूर्ण कथा कह सुनाई। माँ ने भी बच्चे का मन रखने के लिए कोई चीज घोल-कर बच्चे को दूध बताकर पिला दिया। बच्चा विद्यालय गया तो पूछा कि दूध पी लिया, अश्वत्थामा ने 'हाँ' में कहा—परन्तु किसी ने उत्तर दिया कि दूध कहाँ से पी लिया—घर में गाय

तो है ही नहीं। बस फिर क्या था बिचारा बाहर फिर चला आया और माँ को पुनः सारी कथा सुनाई। तभी आचार्य द्रोण भी आ गये और उन्हें भी इस घटना का ज्ञान कराया गया। हिमालय सा दृढ़व्रती द्रोण भी बच्चे की इस दशा को सुनकर हिल गया। द्रोण की गतिविधि पर काफी ध्यान रखा जा रहा था। आचार्य द्रोण इस संकट काल में पुराने साथी राजा द्रुपद के पास गये और अपनी मित्रता का परिचय भिजवा कर मिलने की बात कहलाई। परन्तु राजा द्रुपद ने यह कहकर मिलने से इन्कार कर दिया कि मेरी तेरी कैसी मित्रता—जब कि "ज्ञान, बल, धन तथा कुल मर्यादा में कहीं भी बराबरी नहीं?" यह सुनकर द्रोण घबड़ा कर घर लौट आये। तभी भीष्म का सन्देश मिला, मरता क्या न करता। गुरु द्रोण ने राजद्वार में ही बच्चों को पढ़ाना शुरू कर, आत्म रक्षा की।

विश्वायुर्धेह्यक्षितम्। [ऋ० १।६।७]

(विश्वायुः) सम्पूर्ण जीवन (अक्षितम्) अखण्डित निर्दोष (धेहि) धारण कर।

मनुष्य को सदा इस प्रकार रहना योग्य है जिस से उसके शरीर, मन तथा आत्मा को किसी प्रकार की हानि न पहुंचे।
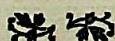
४०. महात्मा भीष्म का मोह

महात्मा भीष्म के अपनी कोई सन्तान न थी परन्तु उन्हें कौरवों और पाण्डवों से अतिशय प्यार था। जब बच्चों की शिक्षा का समय आया तो उन्होंने आचार्य द्रोण के पास सन्देश भिजवाया कि बच्चों को गुरुकुल में ही न पढ़ाकर राजद्वार पर ही विद्याध्ययन कराने आया करें। यह बात सुनकर गुरु द्रोण को महान् आश्चर्य हुआ कि महा० भीष्म जैसा महान् आदर्शवादी व्यक्ति एक गुरुकुल की मर्यादा को तोड़कर नयी परम्परा को जन्म देने पर उद्यत हो रहा है। भीष्म के संदेश को सुनकर आचार्य द्रोण ने विचलित हुए बिना, उत्तर में कहलवा दिया कि शिक्षा ग्रहण करने हेतु विद्यार्थी आचार्य के पास ही पढ़ने आयेंगे। मैं गुरुकुल की मर्यादा को तोड़कर घर पर पढ़ाने की नयी परम्परा न डाल सकूंगा। इस उत्तर को पढ़ व सुनकर सारे राजपरिवार में हलचल मच गई। पर; अब क्या किया जाये। आचार्य द्रोण से कुछ न कहकर कोई उपाय सोचा जाये। दूसरी ओर द्रोण के सम्बन्धी कृपाचार्य को जब इस बात का ज्ञान हुआ तो उन्होंने राजद्वार पर पढ़ाने हेतु अपनी स्वीकृति दे दी। सारे कौरव तथा पाण्डु पुत्र वहीं पढ़ने लगे। गुरुकुल की मर्यादा भंग करने का यह प्रथम अवसर था जिसे भीष्म जैसे ने माया-मोह से युक्त हो; तुड़वाया था। आज तक विद्याध्ययन की प्राचीन परम्परा को बनाये रखने का श्रेय समय-समय पर बौद्ध और जैन काल में लाया गया था। आचार्य शंकर के काल में गुरुगृह पर ही प्राचीन परम्परा का श्रीगणेश हुआ था। उसके सैकड़ों वर्षों के बाद एक व्यक्ति का प्रादुर्भाव हुआ जिस ने इस

समाप्त परम्परा को पुनरुज्जीवित किया और पुरातन संस्कृति की रक्षा हेतु गुरुकुलों की स्थापना कराई। साथ ही परिवारों के बढ़ते व्यामोह को भंग कर आदर्श गुरु-शिष्य परम्परा को स्थापित किया।

४१. गुरु-दक्षिणा

महाभारत के समय से पूर्व जब-कौरव-पाण्डव शस्त्र और शास्त्र विद्या-सीख रहे थे। इन सब के गुरु थे आचार्य द्रोण। आचार्य जी की शिष्यता में प्रमुख था अर्जुन; जिसके प्रति गुरु द्रोण का विशेष स्नेह था, अर्जुन की वीरता के समान, एक शिष्य एकलव्य नाम का भी था जो अर्जुन से किसी भी प्रकार योग्यता में कम नहीं था। किन्तु, आचार्य द्रोण अर्जुन को विशेष महत्त्व देते थे और एकलव्य से घृणा करते थे। इसका कारण यह था कि वह क्षत्रिय न होकर पिछड़ी जाति का था। परन्तु सहसा किसी को भी कैसे पृथक् किया जाय। एकलव्य को पृथक् कर शिष्यत्व से भी उसे पृथक् कर दिया गया। इससे अर्जुन का एकाधिकार सुरक्षित हो गया। एकलव्य भी पराजय मानने वाला नहीं था, उसने आचार्य द्रोण की प्रतिमा को साक्ष रख-कर उसे ही आदर्श गुरु माना और शस्त्राभ्यास करके इतनी निपुणता प्राप्त की कि जो अर्जुन से भी अधिक थी। इसका पता तब चला जब एकलव्य ने निशाने से कुत्ते के मुंह में बाण मारे पर कुत्ता घायल नहीं हुआ। कुत्ते को देखकर पता किया गया कि यह बाणों की मार किस ने की। तब ज्ञात हुआ कि गुप्त रूप से आचार्य द्रोण को गुरु मानकर अभ्यास करने वाला परम शिष्य एकलव्य है। द्रोण को जब इस बात का पता चला तब वे अति

चिन्तित हुए और उसे पीछे कैसे किया जाय ? इस का उपाय सोचने लगे। एक दिन द्रोण एकलव्य से मिले, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। एकलव्य भी आचार्य द्रोण को पाकर अति प्रसन्न हुआ। द्रोण बोले, तुम ने मेरे से जो विद्या सीखी है, उसकी दक्षिणा या भेंट भी तो दी जानी चाहिये। द्रोण के वाक्य को सुनकर एकलव्य अति प्रसन्न हुआ और बोला कि गुरुवर ! जो आज्ञा हो, वह यथाशक्ति भेंट की जाये। द्रोण ने कहा—अच्छा तुम मुझे अपने दायें हाथ का अंगूठा काट कर भेंट कर दो। 'तथास्तु' कहकर उसने ऐसा ही किया, इस प्रकार अंगूठा कटने से कार्य-क्षमता में बाधा आ जायेगी। परन्तु एकलव्य की भेंट देन के बाद भो उसकी क्षमता में कोई कमी नहीं आई और वह उसी सामर्थ्यानुसार अपनी विद्या में निपुण रहा। सब कुछ बलिदान देने में समर्थ एकलव्य ने गुरु-भेंट में किसी प्रकार से कमी नहीं आने दी।

अपनी हानि पर भी गुरु-दक्षिणा का कैसा अनुपम उदाहरण प्रस्तुत है।

४२. गुरुभक्त दयानन्द

सच्चे गुरु की खोज में भटकते हुए दयानन्द ने किसी के बताने पर मथुरा में प्रज्ञा-चक्षु (अन्धे) स्वामी विरजानन्द जी के पास जाकर उनकी शिष्यता ग्रहण की। अद्भुत संयोग; गुरु व शिष्य का, दयानन्द ने ४ वर्ष तक दण्डी स्वामी के चरणों में रहकर अद्भुत योग्यता प्राप्त की, उनकी योग्यता (क्षमता) को देखकर गुरुवर अति प्रसन्न थे, प्रातः काल स्नान हेतु यमुना से जल लाना, कुटिया में सफाई आदि करते हुए, ब्रह्मचर्य व्रत का

पालन किया और विद्वान् बने, प्रताड़ने पर गुरु के हाथ में चोट न लगे अतएव गुरु को डंडा देकर कहा कि महाराज हाथ में चोट लगेगी, डंडे से दण्ड दो ? मेरा शरीर कठोर है, मुझे कष्ट न नहीं होगा। गुरु ने शिष्य की आत्मा में झांका कि यह शिष्य मेरी आकांक्षाओं की पूर्ति करेगा। विद्या उपार्जन के पश्चात् गुरु-देव से विदा का समय आया। भेंट स्वरूप प्रदान हेतु दयानन्द के पास कुछ न था। दयानन्द गुरु के लौंग-प्रेम भक्षण से परि-चित थे। दयानन्द कुछ लौंग लेकर गुरुदेव के पास गये, बोले— मैं निर्धन हूं, मेरी इस भेंट को स्वीकार कीजिये। दण्डी बोले— दयानन्द तुम संन्यासी हो, तुम्हारे पास धन नहीं है पर जो विद्या-धन मैंने तुम्हें दिया है आज उस की दक्षिणा मांगता हूं। दयानन्द ने कहा—भगवन् ! यह तन मन आपके अर्पण है। गुरु बोले—मेरी इच्छा है कि विश्व से वेद-ज्ञान का प्रकाश लुप्त हो रहा है, उस अन्धकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश करो। दया-नन्द ने 'तथास्तू' कहकर गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य किया। दयानन्द ने गुरुवर के चरणों में अपना सर झुका दिया। गुरु ने शिष्य के सिर पर हाथ फेर कर अपना आशीर्वाद दिया। गुरु का आशीर्वाद तथा आज्ञा पाकर दयानन्द ने मथुरा से प्रस्थान किया। और गुरु के आदेश के पालन में सारा जीवन अर्पित कर दिया। इस गुरु-भक्ति के कारण सोया देश जगाया, लुटती कौम को बचाया और अविद्यान्धकार में फंसी जाति की रक्षा में १४ बार जहर का प्याला पिया। फंसी-कीचड़ में भारतीय गाड़ी को अपने शक्तिशाली कन्धों पर रखकर बाहर निकाल कर खड़ा किया। यह गुरु-भक्ति की परम्परा में एक अनुपम उदाहरण है।

४३. गुरुभक्त-आरुणि

ऋषिवर आयोद धौम्य का आश्रम है। उसके पास ऋषि के खेत हैं। इतनी वर्षा हुई कि खेत के किनारे टूटने लगे। धौम्य का शिष्य आरुणि था। शिष्य को खेत की दीवार को बांधने हेतु भेजा, बांध टूटने से पानी बहा जा रहा था। आरुणि एक क्षण न रुककर बांध को रोकने में लग गया। बांध न रुका तो मानो पानी और आरुणि में युद्ध छिड़ गया। पानी को रोकने आरुणि अपने को असमर्थ पा रहा था। आरुणि भी हार मानने वाला नहीं था। जब उसने मिट्टी से पाटने में मिट्टी को पानी से बहते देखा और कोई उपाय न सूझा तब वर्षा पर विजय पाने के लिए एक उपाय सूझा। वह स्वयं टूटे हुए स्थान पर जा लेटा तथा पानी की बाढ़ को रोक दिया। देर रात्रि तक जब आरुणि कुटिया पर वापस न आया तब गुरु को चिन्ता हुई। प्रातः गुरु जी खेत की ओर चल पड़े और आवाज देकर आरुणि को पुकारा, परन्तु उत्तर न मिलने पर, टूटे हुए स्थान पर जाकर देखा कि बेसुध आरुणि ने बांध को रोकने में अपने को लगा रखा है। ठण्ड से शरीर शून्य एवं अकड़ चुका है, धीरे-धीरे सांस ले रहा है।

वास्तविता को समझने में धौम्य ऋषि को देर न लगी। आरुणि के आज्ञा-पालन, कर्त्तव्य निष्ठा के भावों ने धौम्य को विचलित कर दिया, आंखों से अश्रुधारा वह चली। आश्रम में लाकर उसके शरीर को साफ कर ठण्ड को दूर किया। वस्त्रों से ढका, आग से तपाया, थोड़ी देर बाद जब आरुणि होश में आया तब गुरु जी की चिन्ता दूर हुई और प्रसन्न होकर उसे अपना आशीर्वाद प्रदान किया। और बोले—

वत्स ! तुम्हारी गुरुभक्ति पर मुझे अत्यन्त गर्व है और मेरे पास रहकर ज्ञान संवर्धन करते हुए, सुख से जीवन बिताओ

तथा उन्नति प्राप्त करो। कहना ही है कि जैसी भावनाएं काम करती हैं, उसी के अनुरूप ही वचन भी सिद्ध होते हैं। आरुणि गुरुवर धौम्य के आशीर्वादों से खूब फला और फूला तथा गुरु जी को महान् यश प्रदान किया।

४९. महर्षि वाल्मीकि

वाल्मीकि ऋषि के जीवन से बहुतायत लोग परिचित हैं कि किस प्रकार एक डाकू राहगीरों को लूटकर जीवन निर्वाह करता था। एक बार कई दिन तक उसे कोई शिकार न मिला। अंधेरी रात में किसी की खोज में ही था कि कुछ आहट मिली, देखता क्या है कि एक नंग-धड़ंग व्यक्ति सामने से आ रहा है। उस ने उसे रोका पर यह व्यक्ति एक साधु था। साधु ने उसे ज्ञान की बातें बतानी प्रारम्भ कीं और पूछा कि तुम यह किस लिए पाप करते हो। डाकू बोला—यह उपदेश अपने ही पास रखो ! हां, जो कुछ तुम्हारे पास हो, वह सब रख दो, मैं कई दिन से खाली हाथ हूं। साधु ने प्रश्न फिर दुहराया। डाकू को कुछ ध्यान आया।

उसने उत्तर दिया मैं अपनी माता, स्त्री तथा बच्चों के लिए लूटता हूं। साधु ने कहा कि तुम अपने घर जाकर उन से कहो कि क्या तुम सब मेरे पाप के दण्ड-भोग में हिस्सेदार बनोगे ? डाकू कुछ घबड़ा तो गया, फिर बोला—तुम मुझे टालकर भागना चाहते हो, साधु ने प्रतिज्ञा की, कि मैं यहां से कहीं नहीं जाऊंगा। तुम जाकर पूछ आओ। साधु को वृक्ष के साथ बांध कर घर गया और परिवार से बोला कि क्या आप उस के पापों के दण्ड-भोग में भागीदार बनेंगे। उत्तर वही था, जो होना था कि

यह कैसे हो सकता है ? हर एक व्यक्ति अपने कर्मों का स्वयं उत्तरदायी है। डाकू की भूल दूर हो गई, उस का जीवन बदल गया। डाकू से वह महान् ऋषि बन गया, छोटी सी घटना ने व्यक्ति को बदल दिया। इसी व्यक्ति ने बाद में पुरुषोत्तम राम के चरित्र को उल्लिखित कर, अपने नाम से 'वाल्मीकि रामायण' बनाकर रघुकुल को उज्ज्वलित किया।

इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हैं—बुद्ध, दयानन्द, गान्धी, जिनका जीवन साधारण सी बात ने बदल दिया।

४५. गुरु तेगबहादुर

भारत की दशा अतिशोचनीय थी। १७२१ में गुरु तेगबहादुर को गद्दी पर बैठाया। यह वह समय था जब औरंगजेब हिन्दू जाति के नाश करने पर तुला हुआ था। उसने प्रतिज्ञा की, हजारों यज्ञोपवीत उतारे बिना वह कुछ न खायेगा। औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर को बुलवाया, वह आये। उसी समय कशमीर के ब्राह्मण गुरु के पास आकर बोले और धर्म की रक्षा के लिए प्रार्थना की। गुरु तेगबहादुर ने उत्तर दिया, इस समय किसी महात्मा के बलिदान की आवश्यकता है। उत्तर पश्चिमी हमलों में हजारों लाखों सिर कट चुके थे, खून खराबे में कोई कसर बाकी न थी। एक महात्मा का बलिदान कैसा जादू कर देता है जो हजारों मनुष्यों के प्राण देने से पैदा न हो सकती थी। वह एक नेता के बलिदान से उत्पन्न हुई। साधारण मृत्यु और बलिदान में केवल यही अन्तर होता है। मृत्यु तो दोनों अवस्थाओं में हो ही जाती है। पहली दशा में मनुष्य जीवन के मोह में फंसा हुआ, मृत्यु के भय से मरता है और अपने चारों ओर काय-

रता उत्पन्न कर देता है, दूसरी अवस्था में मनुष्य अपने जीवन से बेपरवाह होकर सिंह की तरह निर्भय हो, दौड़ता हुआ मौत के मुंह में जाता है। अपनी शहादत से देश में साहस और निर्भयता पैदा कर देता हैं।

गुरु तेगबहादुर जी के अपने शब्दों में 'मुक्त वही है जो न किसी को भय देता हो और न किसी से भय रखता हो।' यह जौहर था जो गुरु तेगबहादुर ने दिखाया। कलियुग में धर्म को भारी धक्का लगा और गुरु तेगबहादुर को प्रभु ने हजारों इंसानों के जनेऊ तिलक की रक्षा हेतु अपने आपको बलिदान किया। गुरु जी को गिरफ्तार कर दिल्ली लाया गया। धर्म न देकर सिर कटवा दिया। गुरु जी ने जो बांह पकड़ी वह न छोड़ी, अपना सिर दे दिया।

यही सिर था जो लड़ाई में सिक्खों को उनके लिए लड़ता दीखता था। इसी सिर ने प्रत्येक सिक्ख के हृदय में अपनी जगह बना ली थी।

औरंगजेब बड़ा ही संशयात्मा व्यक्ति था। संशय पर अपने पुत्र को भी कारागार में डाल दिया था। दिल्ली में सतनामी साधु-बादशाह से प्रार्थना करने गये। बादशाह हाथी पर जा रहा था, लोगों ने रास्ता रोक लिया। बादशाह ने घमण्ड में आकर कहा—'हाथी चलने दो' बहुत से साधु हाथी के पैरों से कुचल कर मर गये, पर पीछे न हटे। इस सत्याग्रह से जुल्म का शोर मच गया। प्रजा में अफवाहें फैलने लगीं कि बादशाह हिंदुओं के धर्म को ही नष्ट करनें पर तुला हुआ है। इसके प्रतिकार हेतु ही गुरु तेगबहादुर जी नें हिन्दू जनता की प्रार्थना स्वीकार कर, अपना बलिदान करनें का निश्चय किया। आज वे अमर बलिदानियों में अग्रणी हैं।

४६. सभ्य-पुरुष

स्वामी विवेकानन्द जी श्री रामकृष्ण परमहंस के प्रियतम शिष्य थे। उन्होंने अपनी विद्वत्ता, वाग्मिता, सुमधुर भाषण शैली और शारीरिक कान्ति से अमेरिका में जो सम्मान प्राप्त किया। वह प्रचारकों (मिशनरियों) की स्पर्धा का विषय बना और अभी तक बना हुआ है। उन्होंने अकेले रामकृष्ण मिशन को देश-देशान्तर में लोकप्रिय बनाने के लिए वह कार्य किया। जो सैकड़ों प्रचारक मिलकर भी नहीं कर सकते। रामकृष्ण परमहंस की आत्मा अपने योग्य शिष्य पर कितना अभिमान करती रही होगी।

यह उस समय की बात है जब स्वामी विवेकानन्द की धवल कीर्ति अमेरिका में फैली हुई थी और जब अमेरिका में भारतीय संस्कृति का सिक्का बैठ रहा था। एक दिन स्वामी विवेकानंद से एक अमेरिकन मित्र ने कहा—मैं तुम्हारे गुरु को देखना चाहता हूं जिस ने तुम जैसा शिष्य पैदा किया।

स्वामी जी ने अपने मित्र का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार किया और वे उस को साथ लेकर भारतवर्ष में आये तथा जब उस मित्र ने परमहंस के दर्शन किये तो उस को बड़ी निराशा हुई। उसने स्वामी विवेकानन्द से कहा कि क्या यही लंगोट बन्द जंगली व्यक्ति तुम्हारा गुरु है, जिस को कपड़े पहनने तक की अक्ल नहीं है। यह क्यों कर सभ्य मनुष्य कहा जा सकता है। स्वामी जी को अपने इस मित्र के कथन पर जरा भी दुःख नहीं हुआ। उन्होंने मुस्कराकर कहा—तुम्हारे देश में एक दर्जी सभ्य पुरुष का निर्माण करता है और हमारे देश में आचार-विचार सभ्य पुरुष का निर्माण करते हैं। इस कसौटी पर कसकर बताओ परमहंस सभ्य है या तुम्हारा जैण्टिल मैन (सभ्य पुरुष)

कहा जाने वाला पुरुष ?

अमेरिकन मित्र सभ्य पुरुष की इस व्याख्या को सुनकर, निरुत्तर हो गया और हठात् उसके मुंह से निकल गया, सचमुच 'परमहंस' सभ्य पुरुष हैं।

४७. मानवता के दिव्य रूप

बालक रामप्रसाद उन दिनों कक्षा आठ में पढ़ते थे। उन्हें कहीं जाना था। स्टेशन पर पहुंच, तीसरे दर्जे का टिकट लिया और प्लेटफार्म पर पहुंचे। सामने खड़ी गाड़ी में कुछ साथी बैठे थे, उन्होंने बिस्मिल को देखा और दौड़कर उन्हें अपने डिब्बे में ले आये। गाड़ी चल पड़ी—तब उन्हें ज्ञात हुआ, कि वह सेकण्ड क्लास में यात्रा कर रहे हैं। साथियों ने रामप्रसाद के चेहरे को भांप लिया, मुखाकृति खेद से गम्भीर हो गई। साथी बोले—क्यों क्या हुआ। कुछ नहीं। रामप्रसाद ने उत्तर दिया—मैं सोच रहा था कि तीसरे दर्जे का टिकट लेकर मैं सेकण्ड में यात्रा कर रहा हूं। इस प्रकार मैं चोरी कर रहा हूं। मित्रगण हंस पड़े, परन्तु इससे उस बालक की गम्भीरता पर कोई अन्तर नहीं पड़ा। अगला स्टेशन आया तो बालक उस डिब्बे से उतरा और सीधा स्टेशन मास्टर के पास जाकर बोला—मैं भूल से इण्टर क्लास की यात्रा करने उस डिब्बे में बैठ गया और अपना टिकट रखकर कहा—नियम के अनुसार किराये के जितने भी पैसे होते हों, वे मुझ से ले लें।

बालक की ओर देखकर स्टेशन मास्टर को बड़ा गर्व हुआ—उस ने बालक की पीठ थपथपाई। शाबासी दी और कहा कि तुम जैसे बालकों पर किसी भी देश को गर्व हो सकता है।

भारत देश को सचमुच ही इस बालक पर गर्व हुआ भी। बालक रामप्रसाद बिस्मिल काकोरी केस में ख्याति प्राप्त क्रान्तिकारी नेता थे, आगे चलकर भारत माता की गुलामी के बन्धनों को काटा तथा जेल के सींखचों के पीछे हंसकर फांसी की डोरी को गले में डाल, देश पर बलिदान हो गया। बालक रामप्रसाद बचपन में आर्यसमाज में स्वामी सोमदेव के सम्पर्क में आये। आर्यसमाज शाहजहांपुर में रहकर स्वामी जी से ज्ञान प्राप्त किया। भाई चारे का पाठ भी सीखा तथा असफाकउल्ला खां को साथी नहीं, भाई माना जिस का अन्त तक निर्वहन किया। ऐसे थे रामप्रसाद जी।

४८. ईश्वर-प्रेम का नशा

बाबर ने भारत-विजय के अपने सपनों को मूर्त्त रूप देने के लिए भारत में प्रवेश किया। उस समय विजयश्री उसके पीछे पीछे घूम रही थी और सौभाग्य उस पर हंसता था। भारत पर दुर्भाग्य की टेढ़ी नजर थी। देश के अधिकांश रक्षकों की सद्-वृत्तियां को दुष्प्रवृत्तियां मनचाहा नाच नचा रही थीं। वे निजी स्वार्थों के सामने जातिहित की चिन्ता न करते थे। उनकी कर्त्तव्याकर्त्तव्य की निश्चयात्मक बुद्धि का दिवाला निकल चुका था। उनकी दूर दृष्टि मानसिक संकीर्णता के गहरे आवरण में छिप गई थी। उन्होंने कभी यह न सोचा कि भावी संतान हमारे राष्ट्रीय अपराधों और अवहेलनाओं के लिए क्या सोचेगी? उन दिनों आजकल की परिभाषा में झूठी आन की रक्षा वीरता की कसौटी बना दी गई थी। पारस्परिक फूट और ईर्ष्या-द्वेष, हिन्दू जाति को पतित और अपमानित करने के लिए अपना

कुचक्र चला रहे थे। एक राजा दूसरे राजा की मान-मर्यादा को धूल में मिलाने और उसका सर्वनाश तक करने में आगा-पीछा तक न सोचता था। ईर्ष्या-द्वेष की प्रचण्ड ज्वालाएँ, विदेशी लुटेरों को निमन्त्रण दे रहीं थी कि वे आयें और दिल खोलकर लूट-पाट करें। इसी ईर्ष्या ने बाबर के लिए देश में मुगल-साम्राज्य की नींव जमाने का काम किया। उस पर विशाल मुगल साम्राज्य का दृढ़-भवन खड़ा हुआ और इस प्रकार बाबर का सुख-स्वप्न पूरा हुआ।

उन दिनों पश्चिमी पंजाब के एमनाबाद नगर पर अफगान हाकिम का अधिकार था। बाबर के सैनिकों ने इस हाकिम को मारकर नगर को लूटा और नाना प्रकार के उत्पात व अत्याचार किये। बहुत से व्यक्तियों को बन्दी बनाया गया। उन्हीं के साथ गुरु नानक देव जी भी बन्दी बनाये गए।

जब बाबर को गुरु नानक की प्रभु-भक्ति का पता लगा तो उसने गुरु जी का बहुत सम्मान किया, साथ ही प्रसन्न होकर शराब का एक प्याला भेंट किया। परन्तु गुरु जी ने उसे स्वीकार न किया तथा बोले—मैंने 'वह नशा पिया है जो चढ़कर कभी उतरता नहीं।' मुझे शराब की आवश्यकता नहीं है।

इस उत्तर से बाबर का चकित होना स्वाभाविक था, हुआ भी ऐसा ही। बाबर को इस उत्तर में गुरु नानक की आभ्यंतरिक आभा और भारतीय चरित्र की पवित्रता के दर्शन हुए। उसने उसी समय सम्मान सहित गुरु जी को कैद से मुक्त कर दिया।

●

४१. दुर्योधन का भी मन्दिर है !

महर्षि व्यास के महाभारत का खलनायक दुर्योधन का भी मन्दिर है और उसके भी उपासक होंगे। पर यह वास्तविकता है कि महाराष्ट्र के "नगर" जिले के "कर्जत-तालुका-दूरगांव" में इसी नाम का एक मंदिर है। वस्त्र हरण करने वाले दुर्योधन, जो कौरवों का बड़ा भाई था, दूरगांव की सीमा पर स्थित प्रस्तर चबूतरे पर उस का मन्दिर स्थित है। मन्दिर का निर्माण हैरी डेप्थीप वस्तु शिल्प के अनुसार हुआ है।

मन्दिर के गर्भ-गृह में दो बड़े शिवलिंग गोलाकार में स्थित हैं। गर्भ गृह के ऊपर जो शिखर है, उसमें दुर्योधन का यह मन्दिर है। मन्दिर का प्रवेश द्वार पूर्वाभिमुख है उसमें मूर्ति पालथी लगाये हुए है। दो फीट ऊंची, तैलरंग में अंकित है। शिखर का जीर्णोद्धार कार्य भी कुछ वर्षों पूर्व हुआ है। मन्दिर में एक तहखाना है और उस तहखाने के प्रवेश द्वार पर संस्कृत के चार वाक्य उत्कीर्ण हैं।

प्रत्येक सात वर्ष में चन्द्र-पंचांगानुसार अधिक मास में, दुर्योधन मन्दिर का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। इस समय पर हजारों व्यक्तियों को अन्न दान किया जाता है। वर्षा ऋतु के चार मास अधिक वर्षा होने से द्वार बन्द रहते हैं। दूरगांव के लोगों की धारणा है कि वर्षा युक्त मेघों से दुर्योधन को यदि नजर भी लग जाय, तो वे वर्षा युक्त मेघ दूरगांव की सीमा में प्रवेश भी नहीं करते हैं, तब दूरगांव वालों को दुर्भिक्ष-अकाल का मुंह देखना पड़ता है। अतः वे मन्दिर के प्रवेश द्वार को वर्षा के चारों मास बन्द ही रखते हैं।

बताया जाता है कि जब पाण्डवों के आतंक से दुर्योधन भय-भीत होकर जलाशय में अपने को छिपा लेता है। परन्तु जला-

शय के जल ने उसको सहारा देना भी मन्जूर नहीं किया। तब से दुर्योधन क्रोधित दृष्टि से वर्षा युक्त-सजल नेत्रों से मेघों को देखा करता था। मेघ उस कुदृष्टि से बचने की प्रेरणा से भाग जाते थे।

'दूरगांव' की यह महाभारत कथा, किसी पुराण में भी उल्लिखित न हो। यहाँ एक ऐसी दन्तकथा प्रचलित है कि—

श्रीकृष्ण के बंधु बलराम ने अपनी भगिनी सुभद्रा का विवाह दुर्योधन के साथ सम्पन्न करने का निश्चय किया था पर श्री कृष्ण की सहायता से अर्जुन ने पहले ही सुभद्रा का अपहरण कर सुभद्रा से विवाह कर लिया था। इससे दुर्योधन अति असन्तुष्ट हुआ और उसके मन में यह विचार आया कि अब अर्जुन पर विजय प्राप्त करा फिर पाण्डवों का नाश करो।

ऐसी स्थिति में नारद मुनि उसे मिले तथा नारद के परामर्शानुसार दुर्योधन 'दूरगांव' में आया और उमा-महेश्वर के मन्दिर में वह कठोर तपश्चर्या करने लगा। इस तपस्या से भोले शिव उससे प्रसन्न होकर बोले! वर-मांग, दुर्योधन ने कहा कि हे शिव! ऐसा वर दो कि मैं सदा अर्जुन से अभय होऊं। शंकर ने कहा—तथास्तु—

बस? दुर्योधन इसी वर-प्राप्ति से मदान्ध बनकर 'दूरगांव' से हस्तिनापुर वापस लौटा परन्तु दुर्योधन भी रावण की भांति अनर्थ करेगा, इस भय को पार्वती ने महेश्वर के समक्ष प्रस्तुत किया, पर शंकर ने पार्वती की बात को नहीं माना।

इस बात पर उमा-पार्वती रूठ कर 'राशीन' गाँव (जि० नगर) चली गई और वहां ही अब उमा जी स्थित हैं। राशीन यमाई देवी के रूप में तथा शंकर जी दूरगांव में ही रह रहे हैं। उसी मन्दिर में।

युद्ध में जब भीम व दुर्योधन का गदा युद्ध हुआ और उसमें

दुर्योधन घायल हो गया। तब दुर्योधन नें भगवान शंकर से कहा कि आप अपने यहां ही स्थान दे दो।

शंकर जी नें दुर्योधन की बात मान ली, तब से दुर्योधन मन्दिर के शिखर के पोल में बनाये अपनें मन्दिर (दूरगांव) में स्थित है।

यह है दूरगांव मन्दिर के दुर्योधन-मन्दिर की कहानी। जिसका शोधकार्य अवश्य होना चाहिये।

५०. दुश्मनी का अन्त

दो गांवों के बीच एक नदी बहती थी। गांव छोटे और आमने सामने थे। बिरादरी से मछियारे थे। दोनों गाँवों में परस्पर प्रेम और भाई चारा था। समय-समय पर मिलना होता रहता था। नदी के बीच एक मील लंबा टापू था। भूमि उपजाऊ थी। इस के अतिरिक्त कुछए अण्डे भी देते थे। खाने में गांव वालों का स्वादिष्ट व्यंजन था। एक बार उन अण्डों को लेकर गांव वालों में झगड़ा हो गया, एक आदमी मारा गया, तब से परस्पर में भारी दुश्मनी हो गई। एक के मरने पर दूसरे गांव का व्यक्ति मारा गया। इस प्रकार हत्याओं का सिलसिला चालू हो गया तथा टापू पर अपना-अपना अधिकार लेने में होड़ लग गई। जब दोनों तरफ के लोग काफी मर गये तो दोनों तरफ के व्यक्ति अपने-अपने मुखिया के पास गये। सारी बात कहीं। तब उन्होंने कहा कि यह टापू एक गांव के लोग दूसरे गांव वालों को दे दें। पर उन्होंनें ऐसा करनें से मना कर दिया। दोनों पक्ष अपना अधिकार छोड़ने को तैयार न थे क्योंकि लोग उन्हें कायर कहने लगेंगे। हत्याएँ होती ही रहीं,। कुछ दिनों के बाद वहां

एक साधु महात्मा जी पधारे। उन्होंने वहां की सारी दुरवस्था को देखा व सुना। उम्र में एक सौ से ऊपर का था। दुनिया बड़ी देखी थी और बहुत दूरदर्शी व बुद्धिमान भी था।

दोनों पक्षों के मुखिया उस महात्मा के पास पहुंचे, उससे सारी बात कहकर उसकी नेक सलाह ली। बोले—दादा, हमारे विनाश को रोको, हमारे झगड़े की जड़ यह टापू ही है। कोई ऐसा उपाय बताओ कि सांप भी मर जाय और लकड़ी भी न टूटे। यह सुनकर वृद्ध हंस पड़ा। उसे एक उपाय सूझा, वह गांव वालों से बोला—एक उपाय है कि आप के गांव में से एक की लड़की दूसरे गांव में ब्याह दो जाये। लड़की उनकी, लड़का इन का, साथ में ब्याह होने पर उन्हें दहेज में यह टापू भेंट स्वरूप दे दो। यह सलाह दोनों मुखियाओं को जंची, उन्होंने उस महात्मा के सुझाव की बड़ी प्रशंसा की।

कुछ दिनों के बाद एक गाँव की लड़की का दूसरे गांव के लड़के के साथ विवाह हो गया। विवाह की रस्म उसी टापू पर हुई, सब ने मिलकर आमोद-प्रमोद गाना बजाना किया। बाद में वह टापू वर पक्ष वालों को सौंप दिया गया।

देखते-देखते नफरत प्रेम में बदल गई। उसके बाद किसी ने भी उन लोगों में झगड़ा होते नहीं सुना।

महात्मा की सूझबूझ ने आपसी मनमुटाव का कितना सुन्दर सामञ्जस्य निकाला जो विद्रोह से मधुरता में बदल गया। ●

५१. विचित्र—रेलवे कुली

बंगाल के एक छोटे से स्टेशन पर गाड़ी रुकी, रात्रि का समय था—गाड़ी थोड़ी देर बाद चली गई और यात्री भी उतर कर अपने गन्तव्य स्थान की ओर चले गये। परन्तु एक सूटकेस

वाला नवयुवक जो सूट-बूट पहने था, इधर-उधर दृष्टिपात कर रहा था। युवक को कुली की खोज थी क्योंकि सामान थोड़ा अधिक था। युवक अभी खड़ा सोच ही रहा था कि कहीं से एक साधारण सा मनुष्य घूमता-घामता उस युवक के पास आकर खड़ा हो गया। उस व्यक्ति ने उस युवक से खड़े रहने का कारण पूछा—आपको क्या चाहिए, युवक-सीधे-सादे व्यक्ति को देख-कर बोला—कि कुली चाहिए। तुम यह सामान मेरे घर तक पहुंचा दोगे ? काफी मजदूरी दूंगा। उस व्यक्ति ने कहा—'क्यों नहीं ? वह कुछ विना मोल-तोल किये ही युवक का सामान अपने सिर पर रखकर चल पड़ा, रास्ते में कोई किसी से न बोला। युवक जब अपने स्थान पर पहुंच कर अन्दर चला गया तब एक दूसरा आदमी साथ में लालटेन लेकर आया जो उसका बड़ा भाई था।

उसने कुली से कहा—सामान रख दो और यह लो अपनी मजदूरी। कुली ने सामान रख दिया किन्तु पैसों की ओर देखे बिना ही जिधर से आया था वापस चल दिया। युवक का भाई आश्चर्यचकित होकर उसे देखने लगा। ऐसा कुली उसने पहले नहीं देखा था। जो परिश्रम करने के पश्चात् मेहनत की मजदूरी न ले। वह इसी कौतुहल के साथ लालटेन लेकर आगे बढ़ा और उसके प्रकाश में उसका मुख देखने लगा।

कुली का मुख प्रकाश नें देखते ही युवक का मस्तक कुली के चरणों में झुक गया।

थोड़े ही समय में यह खबर सारे क्षेत्र में फैल गई कि यह व्यक्ति जो कुली के रूप में हैं पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हैं। लोग यह सुनकर उनके दर्शनों के लिये दौड़ पड़े।

उस युवक का सिर लज्जा से गड़ा जा रहा था। पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर धारा सभा के सदस्य थे। साथ ही विद्वत्ता में उनका बड़ा नाम था।

५२. वीरबन्दा वैरागी

पंजाब में सिक्ख गुरुओं ने धर्म की रक्षा हेतु आन्दोलन छेड़ रखा था। इस आन्दोलन से उन्हें बड़े कष्ट झेलने पड़ रहे थे। परन्तु वैरागी को क्या ? इस ने तो संसार छोड़ दिया था।

दक्षिण मेंजब मराठे औरंगजेब का मुकाबला कर रहे थे तब वैरागी मठ में बैठा हुआ था सोचता कि अब मुझे क्या, मैं तो दुनियादारी से दूर हूं। इतने में गुरु गोविन्दसिंह पंजाब छोडकर दक्षिण में पहुंचे और वैरागी की कीर्ति इनके कानों तक पहुंची, गुरु ने वैरागी से मिलने का निश्चय कर लिया। उधर जाने पर दो वीरों की भेंट हुई, ऐसी परिस्थिति में दो वीर कभी भी न मिले होंगे। यह भेंट जादू का खेल था। वैरागी ने अपनी मातृभूमि की अवस्था गुरु की आंखों में देखी तो वैरागी के जीवन में महान् परिवर्तन हुआ।

गर्भिणी हिरणी के शिकार पर उस के नन्हें बच्चों की तड़प और मृत्यु ने बहादुर शिकारी राजपूत लक्ष्मण को वैरागी माधवदास बना दिया। अब एक सच्चे क्षत्रिय से भेंट हुई इस क्षत्रिय ने वैरागी के हृदय में क्षात्र धर्म का बीज बो दिया।

गुरु गोविन्दसिंह ने वैरागी को अपनी मातृभूमि के दुःख का चित्र दिखला कर उसे कष्टों से निकालने के लिए वीररस पान करने पर तैयार किया। वीरबन्दा वैरागी वैराग्य का त्याग कर कर्मयोग के पथ पर चलने लगा। गुरु ने वैरागी की कीर्ति और

योग्यता की बड़ी प्रशंसा की वैरागी ने कहा कि मैं तो आपका एक बन्दा हूं। गुरु बोले—आप बन्दा हो तो अपनी माता की वन्दना करो। वैरागी ने आज्ञा मान लो। सिक्खों में इसे 'बन्दा वहादुर' के नाम से जाना गया है।

मातृभूमि का प्रेम इस वैरागी को पंजाब खींच लाया, नवाब सर हिन्द ने कहा कि तुम्हारा एक गुरु तो मारा-मारा छिपता घूमता है। अब एक नया गुरु आया है, इसकी भी खबर ली जायेगी कि उसका कहीं पता भी न चलेगा। घृणा और अपमान से ठुकराये सिख वैरागी के पास आ आकर इकट्ठे हो गये। वैरागी का दबदबा सारे उत्तर भारत में फैल गया।

पंजाब का इतिहास लेखक मुहम्मद लतीफ ने 'पंजाव का इतिहास' में लिखा है कि बन्दा ने सहस्रों मुसलमानों का वध किया और लुधियाना से लेकर सर हिन्द तक साफ कर दिया। वैरागी साधु था, फिर भी ऐसा जंगी नेता भारत में पहले नहीं हुआ था।

वैरागी जाति का पहला सपूत था जिसने सदियों की दासता के पश्चात् स्वतन्त्रता की पताका हाथ में ली। अब्दुल समन्द के साथ वैरागी पर हमला हुआ। संघर्ष कड़ा हुआ वैरागी ने सेना को देखा तो बोला—अब होनी होकर रहेगी। धनुष-बाण अलग रख सैनिकों से कहा—कि गिरफ्तार कर लो। उन्होंने इसे जंजीरों से बांध लिया। पवन सेना खुश थी परन्तु हिन्दुओं की आशाओं पर पानी फिर गया। सभी दुखी थे वैरागो तारे के समान चमकता रहा। सबको भेड़ों की खालें पहनाई गई। गधों पर सवार किया गया। वैरागी का मुंह काला किया गया। काजियों के सम्मुख सैनिकों समेत वैरागो को पेश किया गया। साथ ही शर्त थी कि 'तुम्हें प्राण दान दिया जा सकता है यदि इस्लाम ग्रहण कर लो। धर्मपरिवर्तन स्वीकार न करने पर सब

के वध की आज्ञा हुई। प्रतिदिन एक सौ व्यक्तियों का वध होता था। आठवें दिन वैरागी की बारी आई। बादशाह ने वैरागी से पूछा कि तुम कैसी मौत मरना चाहते हो। उत्तर में जैसे तुम्हारी इच्छा हो वैसे मारो। वैरागी का बालक सामने रखकर उसे मारने को कहा—वीर ने मना किया तो जल्लाद ने वैरागी के सामने उस के दो टुकड़े कर दिये। बाद में वैरागी को गर्म सलाखों से बींधकर चिमटों से मांस नोचा गया। मरते दम तक सच्चा अभिमान था। मुख से उफ तक न निकली। इस देश में एक वीर पैदा हुआ जिस के कारनामे व शहादत अद्वितीय थी। इसकी कोई यादगार चाहे न हो इसकी चिन्ता नहीं।

यदि हिन्दू बच्चों के हृदय मन्दिर में राम और कृष्ण की तरह वैरागी नाम नहीं बसता तो जाति के लिए इससे बढ़-कर और कोई घोर अक्षम्य कार्य नहीं होगा।

५३. भगवान् कृष्ण की गीता

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि यहां महायुद्ध में जहां विनाश है, वहां पर गीता जैसी ज्ञान की वृष्टि भी होती है। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामनें खड़ी हैं। अर्जुन सहसा अपने सखा स्नेही कृष्ण से कहता है कि आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच ले जाकर खड़ा करें, क्योंकि मैं यह देखूँ कि दोनों ओर मेरे आत्मीयजन कौन-कौन हैं। रथ चलकर बीच में आ खड़ा हुआ। थोड़ी देर में अर्जुन विषाद को प्राप्त हो गया और बोला—मैं युद्ध नहीं करूंगा, क्यों कि ऐसी खून से सनी पृथ्वी का उपभोग—अपने इन आचार्य, गुरु, पितामह तथा इन बन्धु-बान्धवों को मारकर इसे प्राप्त कर

करूं; यह असम्भव है। कृष्ण इस अवस्था को देखकर चिन्तित हुए। क्षात्रधर्म जीवन का कर्तव्य तथा कर्म-अकर्म का बोध जहां कराया, वहां पर आने वाली पीढ़ी में अकर्मण्यता एवं कायरता के भाव न भर जायें और यह न विचार करें कि हमारे पूर्वज कायरता से डरकर युद्ध से भाग गये। यह माना कि तुम बहादुर हो, पर उस पीढ़ी के भावों को कैसे दूर किया जा सकेगा।

फिर युद्ध तो युद्ध है, सामने चाहे जो हो। युद्ध कर मरना-मारना ही क्षत्रिय का धर्म है। मरेंगे तो स्वर्ग को प्राप्त होंगे और जिन्दा रहेंगे तो पृथ्वी का भोग करेंगे। यह शरीर तो चोला बदलने के समान है। कुमारता, यौवन, जरा और देहान्तर प्राप्ति होती ही है। फिर धीर पुरुषों के लिए मोह कैसा ?

संज्ञा हीन अर्जुन को सभी प्रकार का तत्त्व बोध देकर और कायरता को अनार्यजुष्टं, अकीर्त्तिकरम्, अस्वर्ग्यम् वाक्य कहकर मोह भंग किया। बस, फिर क्या था ? अर्जुन सतर्क होकर बोला—मैं आपका शिष्य हूं आपके चरणों में पड़ा हूं। फिर कहने लगा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात् मयाच्युत।

आपके द्वारा मेरा मोह नष्ट हुआ, आपकी कृपा से हे अच्युत ! जो स्मृति पाई, यह आपके प्रसाद का फल है।

अध्यात्म ज्ञान से क्या कर्म है, क्या अकर्म है। भगवान् कृष्ण ने हारे हुए बैल की तरह जो अर्जुन बैठ गया था, उसे सक्षम बना कर 'युद्धाय कृतनिश्चयः।' युद्ध करो ऐसा निश्चय करा दिया।

५४. मर्यादा पुरुषोत्तम राम

महाराज दशरथ के तीन रानियां थीं परन्तु सन्तान न होने से अत्यन्त दुःखी थे। अतः महर्षि वशिष्ठ आदि ऋषियों के परामर्श पर पुत्रेष्टि यज्ञ की योजना बनी और ऋषिगण ने स्वयं इस यज्ञ को न कराकर, गृहस्थी शृंगी ऋषि को पुत्रेष्टि यज्ञ का ब्रह्मा बनाकर सम्पन्न कराया। इस प्रकार औषधोपचार और योजनाबद्ध कार्य से महाराज दशरथ के तीनों रानियों से चार पुत्रों का जन्म हुआ। जिनमें राम बड़े थे। बालकपन बीतते देर न लगी और इनके शिक्षा काल की व्यवस्था भी बन गई। क्षत्रिय बालकों को राजर्षि विश्वामित्र के गुरु चरणों में रखकर शास्त्र एवं शस्त्र-अस्त्रों में निष्णात करके सर्वविद्या व्रत की स्नातक उपाधि से विभूषित किया गया। स्नातक होकर घर आये तब इनके विवाह योग्य घर की तलाश हुई। दूसरी ओर राष्ट्र में राक्षसी प्रवृत्तियों ने अपना बढ़ावा लिया। उन्हें नष्ट करने के लिए राजा ने मन्त्रिगणों की सलाह ली। महाराज दशरथ पुत्रों में इतने आसक्त थे कि कहीं भी युद्ध या निशाचरों के विनाश हेतु उन्हें नहीं जाने देते थे।

महर्षि विश्वामित्र यज्ञ की योजना बनाकर उस यज्ञ की सुरक्षा के लिए महाराज दशरथ से बोले—मुझे यज्ञ की रक्षा के लिए आपके पुत्र चाहिए। महाराज चिन्तित थे पर गुरु के सामने विवश थे। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को ले गए। यज्ञ हुआ और यज्ञ रक्षा में राक्षसों का विनाश भी हुआ। इधर महाराज जनक के भी चार पुत्रियां थीं। धनुष यज्ञ का आयोजन कर राम ने उसे पूर्ण कर, भगवती सीता से विवाह किया। इसी प्रकार अन्य भाइयों के भी विवाह किये गये।

विद्या-उपार्जन कर वेद-शास्त्रों के ज्ञाता बने। राजधर्म विषय में निष्णात होकर राजनीति अपने हाथ में ली। इस प्रकार अस्त्र-शस्त्रों में ज्ञान-विज्ञान से पूर्ण योद्धा भी बने।

खर और दूषण की सेना को ५ मिनट में नष्ट करना, किसी विशेष अस्त्र का उपयोग ही हुआ था ; जयन्त नामक व्यक्ति को जिसने जंगल में सीता को सोते में छेड़ा था उसे मारने हेतु अति हल्के अस्त्र का प्रयोग किया था जिसका संचालन वहीं बैठे बैठे कर रहे थे। जयन्त जिधर जाता, अस्त्र उधर ही जाता। आज कल राकेट की भांति वैज्ञानिक आधार पर संचालन और उसका वापस लेना उनके वश में था।

राजनीति के निष्णात-अकेले जंगल में न सेना, न शस्त्रों का जमघट। फिर जंगल में परिस्थितियों को अनुकूल बनाकर विरोधी पक्ष को मारना और स्वपक्ष को बचाना, यह उन की रणनीति थी।

हनुमान का सहयोग उनके जीवन की महान् उपलब्धि थी। रावण के बढ़ते चरणों को रोकने से पूर्व बालि का मार्ग से हटाना अपेक्षित था। अतः सुग्रीव से दोस्ती कर उसे मारा। विद्वान् होकर स्वर्ण-मृग की मरीचिका में फंसी सीता लुटी और जटायु और सम्पाती जैसे गृद्ध दृष्टि वाले, वृद्धों के अनुभव का लाभ लिया। सीता की खोज कराई और रावण तक पहुंचने को समुद्र पर सेतु बनवाया। यह राजनीति की निपुणता ही थी। सुग्रीव के इन्जीनियर, वैज्ञानिक, योद्धा सब कार्य पर लग गए। हनुमान की योजना काम आई। सुग्रीव की पत्नी दिलवाई, सुग्रीव ने महारानी सीता की खोज कराकर, रावण वंश का विनाश किया और भगवती सीता को खोजकर घर लाये। सीता आगमन में कुछ धोबी-धोबिन की कथा चली। सीता की अग्नि परीक्षा कर ऋषियों के पवित्र बताने पर सीता

को अयोध्या लाया गया। फिर भी लोक रंजनार्थ राम नें सीता को महर्षि वाल्मीकि के आश्रम पर भेजा। जहां पर लव-कुश दो बालकों ने जन्म लिया। वहीं पले, फले-फूले। जब राम ने अश्वमेघ यज्ञ किया तो घोड़ा छोड़ा। उस घोड़े को इन दो बच्चों ने रोका। लक्ष्मण ने मोर्चा लिया किन्तु सीता को पता चला तो उन्होंने पहचान कर बच्चों को समझाया तब घोड़ा चला, युद्ध रुका। उस के बाद राम भगवती सीता को बच्चों सहित महर्षि वाल्मीकि के आश्रम से अयोध्या लाये। अयोध्या में खुशियां मनाई गईं।

५५. आत्मज्ञान बिना सब अपूर्ण

बारह वर्ष वेदाध्ययन करके श्वेतकेतु गुरुकुल से लौटा तो उसे अपने ज्ञान के प्रति अहंभाव उत्पन्न हो गया। पिता ने पूछा, आयुष्मान् क्या तुमने वह श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त किया जिसके द्वारा अश्रवित का श्रवण, अकल्पित की कल्पना और अज्ञात का ज्ञान हो सके ?' श्वेतकेतु चकित रह गया, 'वह ज्ञान क्या है तात ?'

'एक स्वर्ण खण्ड के ज्ञान से स्वर्ण का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि स्वर्ण खण्ड में नाम-भेद सम्भव होते हुए भी उनका यथार्थ केवल स्वर्ण है। वैसे ही इस ज्ञान द्वारा भिन्न-भिन्न प्राणियों में निहित एक शाश्वत सत्य का दर्शन सम्भव है।' श्वेतकेतु और भी विस्मित हो उठा, 'निश्चय ही मेरे मान्य आचार्य इस ज्ञान से अपरिचित थे। आप कृपा कर मुझे उपदेश कीजिये।'

पिता ने एक पात्र में जल मंगाकर उसमें लवण घोल दिया और कहा, 'जो लवण इसमें डाला था उसे निकाल लो।' कि

लवण कहां मिलता ? पिता ने कहा, 'इस ओर से पात्र के जल का पान करो। इस का स्वाद कैसा है ?' श्वेतकेतु ने जल पिया और कहा, 'लवणयुक्त' और 'इस ओर से ?' पिता ने दूसरी तरफ संकेत किया। 'लवणयुक्त' यहां भी वही उत्तर था।

'अब पुनः लवण की खोज करो' पिता का निर्देश था। श्वेतकेतु बोला, 'मैं लवण नहीं देखता, केवल जल देखता हूँ।' पिता ने कहा, 'पुत्र इसी प्रकार समस्त प्राणियों में परिव्याप्त अविनाशी आत्मा का दर्शन सम्भव नहीं, किन्तु वस्तुतः उसका अस्तित्व है। इस आत्म-विद्या के अभाव में समस्त ज्ञान अपूर्ण है।'

५६. उत्तम गुरु और शिष्य

शिक्षा के उपरान्त एक शिष्य ने अपने गुरु से उनके पास से चलने पर पूँछा—क्या दक्षिणा दूं ! गुरु जी ने कहा—बेटा मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैंने जिस तरह के ढांचे में ढाला है वैसे ही आदर्श पूर्ण ढंग से तुम स्वयं चलना, संसार को भी चलाने में संलग्न रहना। शिष्य ने फिर अनुरोध किया कि आप दक्षिणा अवश्य बतायें। इस पर गुरु जी ने उस से कहा कि मुझे तुरन्त एक हजार स्वर्ण-मुद्राएँ चाहिए; जल्दी से जल्दी व्यवस्था करके दो।

इसे सुनकर शिष्य घबराया नहीं, क्योंकि संकल्पी गुरु का आत्मविश्वासी शिष्य था। उन दिनों राजा रामचन्द्र जी के पूर्वज महाराज रघु का राज्य था। वह सीधा उनके निवास पर चला गया। देखा तो सम्राट भूमि पर बैठ पत्तलों पर खाना खा रहे हैं। जो स्वयं बर्तनों में खाना खाने के स्थान पर पत्तलों पर खाना खाये, वह मुझे क्या दे सकता है, यह सोचकर लौटने लगा।

सम्राट रघु ने ब्रह्मचारी को बुलवाया। उनके आने और वापस जाने का कारण पूछा। ब्रह्मचारी ने कहा कि महाराज गुरु जी ने दक्षिणा में एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रायें दक्षिणा स्वरूप देने की बात कही। सम्राट ने तुरन्त भोजन बंद कर दिया। फिर ब्रह्मचारी से बोले—कि कल आकर ले जाना।

इस बात को सुनकर समीप में बैठे मंत्री ने कहा—महाराज खजाना तो खाली हो चुका है। दान में आपने सब कुछ बांट दिया। कल आप छात्र को कैसे स्वर्ण मुद्रायें देंगे। सम्राट रघु ने अपना धनुष बाण उठाते हुए कहा—

वीर भोग्या वसुन्धरा ॥

वैदिक उक्ति है कि अनैतिक ढंग से दबाये हुए कंजूसों से धन निकलवा कर अपनी प्रजा की नैतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना राजा का परम धर्म होता है। राजा कुबेर को संदेश भेज दो या तो वह कल तक ५० हजार स्वर्ण-मुद्रायें भेजे अथवा युद्ध को तैयार हो जाये।

महाराज कुबेर सम्राट रघु के पराक्रम को जानता था। उसनें बिना विलम्ब भेजे गये दूत के हाथों ५० हजार स्वर्ण-मुद्रायें भेज दीं। सम्राट रघु ने वह सभी मुद्रायें ब्रह्मचारी को दे दीं।

राजा ने कहा कि यह सभी मुद्रायें गुरु जी को दे दो। इन्हें प्राप्त कर छात्र गुरु के पास गया। सभी मुद्रायें गुरु जी को समर्पित कर दीं। मुद्राओं को लौटाते हुए गुरु जी ने कहा—बेटा जाओ, अपने तप व निज कर्त्तव्य भाव से अपने समाज के उद्धार व उत्थान में निःसंकोच व्यय करते हुए अपने आचार्य व सम्राट रघु की तरह कीर्ति अर्जित करना।

५७. परीक्षण का परिणाम

राजा श्रेणिक भगवान महावीर की प्रवचन सभा से लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक साधु देखा जिसके कन्धे पर मछलियां पकड़ने वाला जाल पड़ा हुआ था। सम्राट ने पूछा—तुम ने कन्धे पर जाल क्यों डाल रखा है।

साधु ने कहा—आज मछलियां पकड़ने में देर हो गई, इसलिए जाल कन्धे पर ही पड़ा रह गया।

श्रेणिक बोला—यह कार्य साधु के लिए आचरणीय कार्य नहीं है। साधु बोला—राजन् ! मैं अकेला क्या अकरणीय कार्य कर रहा हूं। भगवान महावीर के अनेकों शिष्य जो जाति से क्षत्रिय हैं। सभी के सभी मल्लाह ही हैं।

राजा ने कहा—अरे दुरात्मन् ! भगवान महावीर का एक शिष्य भी ऐसा निंदनीय कार्य करने वाला नहीं है तू ऐसा अकृत्य करने वाला है और दूसरों पर दोषारोपण करने वाला भी है।

श्रेणिक ने आगे चलकर देखा, एक श्रमणी प्रसूति के लिए घर में औषधि मांग रही है यह देखकर राजा ने उस से पूछा—अरी निर्लज्ज। तूने संयम को दूषित क्यों किया है।

श्रमणी बोली—राजन् ! मैं ही एक ऐसी नहीं हूं ऐसी तो छत्तीस हजार हैं।

राजा ने स्पष्टता से कहा कि—भगवान महावीर की छत्तीस हजार शिष्यायें पवित्र और पवित्रतम आत्मायें हैं, तू ही एक दुराचारिणी है। राजा श्रेणिक के दृढ़तम निश्चय को अपने ज्ञान के द्वारा स्पष्टता से जानकर साधु तथा श्रमणी वेषधारी देव अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर राजा के चरणों में नत-

मस्तक हुए और बोले—राजन् ! इन्द्र ने जैसे कहा, सचमुच वैसे ही आप दृढ़धर्मी एवं दृढ़ श्रद्धाशील हैं। यह मेरे द्वारा किये गए परीक्षण का परिणाम है।

५८. महापण्डित रावण

लंका का राजा रावण था। यह बड़ा विद्वान् तथा बलशाली था। विद्वत्ता में इसका एक विशेष स्थान था। रावण का वेदों पर भाष्य प्रसिद्ध है, पता नहीं कि यह रावण वही था या उसके बाद में अतिरिक्त कोई वेद भाष्यकार रावण हुआ है।

परन्तु इतना निश्चय है कि यह बड़ा विद्वान् था। इस की विद्वत्ता में विद्वान् लोग मानते हैं कि यह चार वेद, छः शास्त्रों का ज्ञाता था। यह विद्वत्ता की सीमा थी। ज्ञान-विज्ञान का विशाल भण्डार था।

इसी कारण इसे दशमुख कहा गया है। विद्वान् होते हुए भी दुराचारी, अन्यायी अत्याचारी अभिमानी था। पुरानी परिपाटी को मानते हुए आजकल रामलीला में रावण के दश मुख दिखाये जाते हैं। यह विद्वत्ता का मापदण्ड है, पर मूर्खता इतनी है कि विद्वत्ता छिप जाती है। इसके सिर पर गधे का सिर लगा हुआ है। दुनिया यह देखकर विचार करे कि इतना विद्वान् होते हुए भी गधे के समान मूर्ख भी था। प्रति वर्ष हिन्दू ही नहीं अन्य मतावलम्बी भी इस दृश्य को देखते हैं कि बुद्धिवाद पर अज्ञानता किस प्रकार प्रभावी है।

रावण ने अपनी विस्तारवादी नीति से ही सारा जनमानस अपने प्रतिकूल बना लिया। इसके विनाश के लिए अयोध्या में

महान् विचारकों की बैठक हुई। जिसमें उसे रोकने हेतु राम ने बनगमन किया। राक्षसों का वध किया, ऋषियों की रक्षा की। रावण ने राम जैसे महापुरुष को धोखे में रख कर मारीच को हिरन के वेष में भेजकर बहन का बदला लिया। सीता के अपहरण से बड़े-बड़े युद्ध हुए। तब जाकर रावण की विस्तारवादी नीति को रोका। सीता को वापस लिया। फिर आकर अयोध्या का राज्य लिया। इस प्रकार रावण का चरित्र भ्रष्ट कहते हैं पर एक पक्ष और भी हैं। बहन का बदला लेने के लिए सीता का हरण तो किया, किन्तु उसकी बिना स्वीकृति के उसे कुछ नहीं कहा। सीता अशोक वाटिका में रखी गई। राक्षसियों की निगरानी में रखकर सीता को रावण की पत्नी बनने को बहुत समझाने की कोशिश की। परन्तु सीता की इच्छा बिना रावण ने किसी प्रकार की भी जबरदस्ती नहीं की।

सीता की अग्नि-परीक्षा करना इस बात का प्रबल प्रमाण है। इस परीक्षा के बाद ही राम ने सीता को स्वीकार किया।

इस प्रकार महामति रावण के दोनों पक्ष दिये जाते हैं। विद्वत्ता-पूर्ण जीवन सदाचार का चरित्र-चित्रण है परन्तु दश-मुख रावण के ऊपर गधे का सिर महामूर्खता का द्वितीय पक्ष भी है।

इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रावण विद्वान् पंडित था।

५१. संगठन की भावना

पाण्डव अपने वनवास तथा अज्ञातवास के दिन व्यतीत कर रहे थे। दुर्योधन को जब उस स्थान का पता लगा जहाँ वह

ठहरे थे तो वह अति प्रसन्न हुआ और उन्हें अपने राजसी ठाठ का दिग्दर्शन कराने के लिए वनप्रदेश को चल दिया।

मार्ग में गन्धर्वों ने उस पर आक्रमण कर दिया और उसे पराजित करके बन्दी बना लिया।

जब युधिष्ठिर को इस बात का पता चला तो उन्होंने भीम तथा अर्जुन को देखने भेजा। भीम-अर्जुन की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। युधिष्ठिर दोनों भाइयों के व्यवहार पर चुप हो गम्भीर श्वास लेने लगे। उन को इस दशा को देख कर भीम-अर्जुन आश्चर्यचकित हो गये।

अर्जुन ने कहा कि महाराज आप मौन क्यों हैं। क्या इस समाचार से आप को दुःख हुआ है।

यह सुन कर युधिष्ठिर की आँखों से आंसू छलक आये। उन्होंने गम्भीर भाव में कहा—अर्जुन मुझे इस गम्भीर समाचार से सत्य ही कष्ट हुआ है। दुर्योधन के बन्दी हो जाने से मुझे इतना दुःख नहीं है जितना दुःख लोगों के पतन हो जाने से हुआ है। क्या इस समाचार में प्रसन्न होने की कोई बात है। यह कहते-कहते वे रुक गये। पुनः तीव्र स्वर में बोले—

पार्थ, दुर्योधन और हम में शत्रुता है। इस के नाते हम पाँच हैं और वे १०० हैं, परन्तु किसी तीसरे शत्रु के मुकाबले में हम १०५ हैं। धिक्कार है हमारे जीवन को यदि हम तीसरे शत्रु के द्वारा अपने भाइयों के पराभव को न केवल देखें और चुप ही रहें, वरन् उस पर हर्ष मनायें।

यह सुन कर भीम तथा अर्जुन चुपचाप महाराज युधिष्ठिर के चरण स्पर्श कर अपने शिविर को चले गये। साथ ही युधिष्ठिर के आदेशानुसार अपने कौरव भाइयों को गन्धर्वों से युद्ध कर छुड़ा लाये।

६०. उपकार का बदला

इन्द्रदेव नामक एक लड़का एक अत्याचारी स्वामी का दास था। यह उन दिनों की बात है जिन दिनों दासों पर स्वामी का एकाधिपत्य होता था। वे उन्हें जिस प्रकार चाहें चलाते थे। उन का क्रय-विक्रय करना तथा जान से मार देने का अधिकार प्राप्त था। देश का कानून दासों पर होने वाले अत्याचारों और अनाचारों को रोक न सकता था। उन दिनों दासों की दशा पालतू पशुओं से भी अधिक खराब थी।

इन्द्रदेव का स्वामी उसे बहुत मारता-पीटता और तंग करता था। इन्द्रदेव उस के अत्याचारों से बहुत दुःखी था और उस निर्दयी स्वामी के अत्याचारों से बचने के लिए मर जाना अच्छा समझता था।

एक दिन उस के स्वामी ने बिना किसी अपराध के उसे कोड़ों से पीटा व मारते-मारते अधमरा कर दिया। बाद में इन्द्रदेव उस के पास से भाग कर एक घने वन में पहुंचा जो भयानक था किन्तु इन्द्रदेव जीवन से तंग था। अतः उस बीहड़ वन में जाने से भी उसे भय नहीं लगा।

उस वन में रहते हुए ३-४ दिन बीते। एक दिन प्रातः जब सोकर उठा तो देखा कि पास में एक सिंह बैठा हुआ है। उस ने मृत्यु पास देख प्रभु को याद किया और आँखें शेर की ओर फेरीं तो उस ने देखा कि सिंह कराह रहा है और अपना एक पंजा ऊपर उठाए हुए है और दर्द से कराह रहा है। इन्द्रदेव ने पैर को हाथ में लेकर देखा तो पंजे में एक कांटा चुभा हुआ है। उसी की पीड़ा से वह परेशान है। उस ने यत्न से काँटे को निकाल दिया तो सिंह की पीड़ा तत्क्षण दूर हो गई। सिंह इन्द्रदेव से प्रेम करने लगा और दोनों साथ-साथ रहने लगे।

इन्द्रदेव के मालिक ने उस के भाग जाने पर राजा से रिपोर्ट की और तलाश करने की प्रार्थना की। सिपाही आदेश पाकर

खोजने निकल पड़े। १०-१५ दिन बाद इन्द्रदेव मिल गया तो राजा के पास ले आये। राजा ने स्वामी की प्रार्थना पर उसे मृत्यु दण्ड दिया। इन्द्रदेव की एक न सुनी गई।

हिंसक जानवर इन्द्रदेव पर छोड़ा गया जो ८-१० दिन का भूखा था। उसी से वध करने की आज्ञा दी गई। निश्चित दिन इन्द्रदेव मरवाये जाने के लिए प्रांगण में लाया गया। दर्शकों से वह आंगन भर गया।

राजा ऊँचे आसन पर बैठा था। भूखे शेर को समक्ष लाया गया। भूख से व्याकुल शेर दहाड़ लगा रहा था। जनता डर रही थी। इन्द्रदेव शेर के पिंजरे के पास लाया गया। उसने राजा से निर्दोष होने की प्रार्थना की और कहा कि स्वामी के अत्याचारों से तंग होकर ही मैं घर से भाग गया था। मैं प्राणों की भिक्षा मांग रहा हूँ। राजा कठोर था। उसने इसके बचाने हेतु किसी की भी नहीं सुनी।

सिंह का पिंजरा खोला गया। शेर इन्द्रदेव पर झपटा परन्तु शेर बजाय हमला करने के इन्द्रदेव के चरणों में लेट गया। इस दृश्य को देखकर सब दुखी हुए। इस व्यवहार का कारण पूछा। राजा भी इन्द्रदेव के पास गया और इस आश्चर्यजनक व्यवहार का कारण पूछा। इन्द्रदेव बोला—महाराज, यह सिंह भी एक प्राणी है और मैं इसे एकमात्र अपना कह सकता हूँ। आज मैं अपने चिरकाल से बिछुड़े हुए मित्र से मिल कर अति प्रसन्न हूं। यह कह कर उसने सिंह और अपनी मित्रता का सब वृत्तान्त कह सुनाया। तब सभी अवाक् रह गये।

राजा ने तत्काल आज्ञा दी कि इन्द्रदेव मैं तुम्हें मुक्त करता हूं और साथ ही तुम्हारा मित्र भी रिहा किया जाता है। अन्य पुरुषों की भांति राजा ने दास के अतिरिक्त उस जानवर का भी भारी स्वागत किया।

मनुष्य की कौन कहे जीव भी किये का बदला अवश्यमेव देते हैं।

६१. कर्त्तव्य की वेदी पर

अनन्त और बसन्त दो अभिन्न मित्र थे। अनन्त सेनापति और बसन्त देश का सर्वाधिकारी था।

एक बार देश पर शत्रु ने बड़ी सेना लेकर आक्रमण कर दिया। अनन्त स्वयं मुकाबला करने के लिए गया। ३-४ दिन पर्यन्त घमासान युद्ध के बाद अनन्त की विजय हुई। अनन्त परास्त सेना के सेनापति और सैनिकों आदि को पकड़ कर शिविर में ले आया, बिना आज्ञा के इनसे कोई मिल नहीं सकता था, सख्त पहरा था।

एक दिन एक युवती शिविर के द्वार पर आई और पहरेदार से सेनापति को मिलने की इच्छा प्रकट की, पर पहरेदारों ने मिलाने से इन्कार कर दिया। इस पर उसने अनन्त से मिलने की इच्छा प्रकट कर एक चिट लिखकर भेजी।

सन्तरी चिट लेकर अनन्त के पास गया। उसने चिट पढ़ी और तुरन्त ही द्वार पर आया। नवयुवती ने अभिवादन करके कहा—

सेनापति मैं आपसे भिक्षा माँगने आई हूं। मेरा एकमात्र भाई मृत्यु शय्या पर पड़ा है और पिता के दर्शनों के लिए छट-पटा रहा है। यदि उसे देखने भर के लिए पिता जी को मुक्त कर दें तो हम बड़ा उपकार मानेंगे। मैं आपको विश्वास दिलाती हूं कि आपके साथ किसी प्रकार का विश्वासघात न होगा। नवयुवती की बात सुनकर अनन्त ने कहा बहिन ! मुझे तुम्हारे साथ सहानुभूति है परन्तु सेना का नियन्त्रण मुझे आज्ञा नहीं देता कि मैं तुम्हारे पिता को घर जाने की आज्ञा दे दूं। मैं विवश हूं।

यह उत्तर सुनकर युवती रोने लगी। उसने रोते हुए कहा—सेनापति मैं आपसे पूछती हूं कि क्या सेना का नियन्त्रण मनुष्यत्व से ऊपर है? यह बात अनन्त के हृदय को लगी। उसने ठण्डी सांस लेकर और बिना कुछ कहे सेनापति को घर जाने की आज्ञा दे दी।

दूसरे दिन दोपहर को न्याय सभा लगी थी। अनन्त कई सैनिकों के घेरे में नीचा मुंह किये हुए दण्ड की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ा था। वसन्त एक ऊंचे आसन पर बैठा दण्डाज्ञा लिख रहा था। कुछ देर के उपरान्त सैनिक नियन्त्रण के उल्लंघन के अपराध में अनन्त को मृत्यु दण्ड की आज्ञा सुनाई गई। शिविर में सन्नाटा छा गया। अनन्त बन्दी गृह में डाल दिया गया।

तीसरे दिन अनन्त चरखी के निकट ले जाया गया। हजारों स्त्री-पुरुषों की भीड़ लग गई। वसन्त चरखी के निकट बैठा था।

उन दिनों यह चरखी भी फांसी और सूली की तरह वध करने का एक यन्त्र था। अनन्त को चरखी के भीतर बन्द कर दिया गया। उपस्थित नर-नारी चिल्ला उठे। वसन्त ने एक-दो की आवाज लगाई, तीसरी आवाज के सुनते ही अनन्त की आँखें वसन्त की आँखों से जा मिलीं। इधर चरखी का पहिया घूमा उधर वसन्त ने अनन्त के देखते ही देखते जेब से पिस्तौल निकाल कर अपने सीने पर फायर किया। वसन्त का काम तमाम हो गया।

दोनों मित्रों के इस दुखद अन्त पर उपस्थित नर-नारी बिलख-बिलख कर रोने लगे और देश भर में कुहराम मच गया।

इधर यह सब कुछ समाप्त हो चुका था। उधर वह कैदी जिसे अनन्त ने युवती के कहने मात्र—मानवीय दृष्टि से मुक्त किया था, वह अपने घर से पुत्र के दर्शन कर तुरन्त ही अपने

बन्दी कैदियों के पास लौट आया—और बोला मैं अपराधी कैदी हूं, मुझे जेल में डाल दो।

अनन्त की मानवीय भावना ने जब कैदी को सही बात का अहसास कराया तो वह भी उसकी कर्त्तव्य परायणता पर मुग्ध था, और वसन्त के आचरण पर सन्तुष्ट था। इसी प्रकार वह स्वयं भी अपनी कर्तव्य परायणता हेतु कैदखाने में वापस आ गया। सजा भुगतने को तैयार हो गया।

अपनी-अपनी जगह कर्तव्य की वेदी पर तीनों ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

उस नवयुवती ने जब अनन्त के व्यवहार को सुना तो वह भी अति दुखी हुई, क्योंकि उसके कहने पर ही उसके पिता को मुक्ति मिली थी।

९२. गजेन्द्र-मोक्ष

प्राचीन काल में त्रिकूट नामक एक पर्वत था। उसकी कन्दराओं में सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर आदि रहा करते थे, उसके हरे-भरे वन में नाना प्रकार के जंगली पशु भी किल्लोलें किया करते थे। वहां सुनहरे कमलों से परिपूर्ण, सारस और हंसों से सुशोभित तथा मत्स्य, कच्छप, ग्राह आदि से युक्त सरोवर भी शोभायमान था। एक बार उस तालाब में स्नान करने तथा पानी पीने के लिए एक हाथी गया। जैसे ही उस गजेन्द्र ने उस तालाब में प्रवेश किया। उस झुण्ड के स्वामी (हाथी) के पैर को एक बलवान् ग्राह ने पकड़ लिया। उस हाथी ने तथा उसके साथी हाथियों ने ग्राह (नाके) से छूटने के लिए बड़ा प्रयत्न किया, पर नाके की पकड़ से वह गज छूट न सका, यह युद्ध

सहस्रों वर्षों तक चलता रहा।

बहुत समय के बाद हाथी के बल और मनोबल क्षीण हो गये, पर जलवासी नाका तो और भी शक्तिशाली होता चला गया। इस प्रकार गजेन्द्र ने जब यह समझ लिया कि मेरे प्राण तो अब सङ्कट में पड़ गये हैं और मैं स्वयं को बचा नहीं पाऊंगा, तो उसे यह ध्यान आया कि ये मेरे कुटुम्बी हाथी और हथनियां अब नहीं छुड़ा सकतीं, तो मुझे भगवान् की शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। क्योंकि यह ही अन्तिम आश्रय है और जिनके भय से मृत्यु भी भागती है।

यह निश्चय करके पूर्वजन्मों के संस्कारों से प्रेरित होकर अपने हृदय में भगवान् का ध्यान किया। "आप ही एकमात्र इस जगत के आदिकारण भगवान् हैं, मैं इस संकट में फंस गया हू, मुझे आप उबारिये, मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूं।"

इस प्रकार गरुढ़ारूढ़ भगवान् त्रिलोकीनाथ विष्णु वहाँ आविर्भूत हुए और उन्होंने तालाब के भीतर डूबते हुए गजेन्द्र ने भी देखा कि आकाश में गरुड़ पर आरूढ़ भगवान् ने अपने करकमल में सुदर्शन चक्र को उठा रखा है, इतने में देखते-देखते ही भगवान् ने ग्राह के मुख को फाड़ दिया, और गजेन्द्र को ग्राह की जकड़ से छुड़ा दिया। गजेन्द्र सीधा भगवान् के धाम बैकुण्ठ को प्राप्त हुआ।

निष्कर्ष—इस सुन्दर कथानक में संसार को सरोवर, गजेन्द्र को जीवात्मा, ग्राह को मृत्यु, गरुड़ को वेद तथा जगत् व्यापक परमात्मा को विष्णु रूप में चित्रित किया गया। जब यह जीवात्मा अपने मन में निश्चय कर लेता हैं, कि मेरे सजातीय बन्धुवर्ग भी मुझे संसार-सरोवर में डूबने से नहीं बचा सकते, और भगवान् ही एकमात्र शरण हैं। तब वह संसार

सरोवर के विषय रूप पानी से भगवान् की कृपा से मौत के ग्राह से छूट कर विषयों के जल में डूबने से बच जाता।

६३. त्रिदेवों की जब परीक्षा हुई

जब परमपिता परमात्मा ने संसार की रचना की, तब ब्रह्माण्ड के कार्य सञ्चालनार्थं तीन देवताओं को निर्धारित किया।

ब्रह्मा जी को उत्पत्ति करने का काम सौंपा गया, भगवान् विष्णु को पालन-पोषण का काम, तथा शिव को संहार करने का काम सौंपा गया। तभी से ये तीनों देव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) अपना-अपना कर्त्तव्य समझ कार्य करने लगे। किसको किस योनि में जन्म देना है, यह काम ब्रह्मा का है। प्रबन्धानुसार प्रत्येक जीव के लिए भोजन पहुंचाना यह काम विष्णु का है। एवं कब किस प्रकार मृत्यु होनी है. यह कार्य शिव जी का है।

जब सृष्टि की रचना हुई थी उस समय प्रारम्भ में यह कहना कठिन था कि इन त्रिदेवों में कौन बड़ा है। यह समस्या सबके सामने आई। कहा जाता है कि इस बात के पूर्णतया निश्चय हेतु ऋषियों तथा मुनियों की एवं महापुरुषों की एक महासभा आयोजित की गई। उस सभा में किसी ने अपनी राय स्पष्ट की कि मेरी दृष्टि में तीनों में से ब्रह्मा जी पैदा करने वाले ही बड़े हैं। परन्तु किसी ने अपनी राय प्रकट की कि जीवों का संहार करने वाले शिव को ही बड़ा समझना चाहिए। तभी किसी ने कहा—कि जो जीव मात्र का भरण-पोषण करते हैं वही 'विष्णु' जी ही बड़े हैं।

उस समय सभा में जितने मुंह उतनी बातों वाली उक्ति चरितार्थ हो रही थी। वाद-विवाद के बाद भी समस्या का समाधान न हो सका, कि कौन बड़ा है। अत्यधिक विचार-विमर्श के बाद इसके निर्णय के लिये महर्षि भृगु जी महाराज को नियुक्त किया गया, कि आप ही समस्या का समाधान करें।

महर्षि भृगु ने सबके कहने पर इन तीनों देवों के स्वभाव की परीक्षा लेने का विचार किया और सर्वप्रथम ब्रह्मलोक में गये। वहाँ पहुँचकर शोर मचाने लगे कि अरे बूढ़े ब्रह्मा तेरा मस्तिष्क विकृत हो गया, मालूम देता है। कहीं सांप, कहीं बिच्छू, शेर-व्याघ्र आदि पैदा करते हो। भला ऐसे जान लेवा जानवर पैदा करके तुम्हारे हाथ क्या आता है।

ब्रह्मा जी यह सुनकर रोष में आ गये और बोले—देखो भृगु तुम ब्राह्मण हो, इसी नाते मैं चुप हूं, अन्यथा मैं तुम्हें अभी शाप देकर ऐसा बोलने पर भस्म कर देता। अतः तुम्हारी इसी में कुशलता है कि अब भी अपनी वाणी पर नियन्त्रण करो और इसी समय यहाँ से चले जाओ।

वहाँ से चलकर महर्षि भृगु कैलाश पर्वत पर जाकर कहने लगे—अरे भोले नाथ; तुम तो सचमुच बगुले भगत हो।

कोई अच्छा है या बुरा, तुम तो हर समय सब के प्राण लेने पर ही तुले हो। जीव मात्र के प्राण हर लेने के बाद भी आँख बन्द कर ऐसे बैठ जाते हो मानो कि तुमने कुछ किया ही नहीं। जैसा मैं सुनता था वैसा प्रत्यक्ष ही देख लिया है।

भृगुजी की बात सुनकर त्रिपुरारी आग बबूला हो गये और त्रिशूल को सम्भालते हुए बोले! महर्षि भृगु, तुम्हें क्या हो गया है जो बोलने तक की तमीज नहीं रही है। यहाँ से शीघ्र चले जाओ अन्यथा मैं अपने त्रिशूल से तुम्हें मार दूंगा।

शिव जी की इस प्रकार बातें सुनकर भृगुजी वहाँ से चल पड़े और अब क्षीर सागर की ओर कदम बढ़ाने लगे, जहाँ विष्णु भगवान शेष शैय्या पर विश्राम कर रहे थे। लक्ष्मी जी उनकी चरण सेवा कर रहीं थी।

भृगु जी ने वहाँ जाकर द्वारपालों से पूछा विष्णु जी कहाँ हैं।

द्वारपालों ने उत्तर दिया कि वे इस समय आराम कर रहे हैं। अतः आप अंदर नहीं जा सकते। परंतु भृगु जी, द्वारपाल के कथन की परवाह न कर भीतर चले गये। अन्दर जाकर आव देखा न ताव, भगवान विष्णु जी के वक्षस्थल पर लात का प्रहार कर कृत्रिम क्रोध बरसाते हुए कहने लगे।

तुम्हारे घर एक ब्राह्मण आया है तुम निश्चिन्त होकर यहाँ सोये पड़े हो। तुम्हें तो अतिथि-सत्कार भी करना नहीं आता है।

यह सुनते ही भगवान् विष्णु जी शैय्या पर से उठ खड़े हुए और महर्षि भृगु के चरण पकड़ दबाते हुए कहने लगे। महर्षि मेरे अहो भाग्य कि आपने कृपा कर आज दर्शन दिये। मैं अपने इस अपराध की क्षमा चाहता हूं कि जब आप इस भवन में आये तो मैं सो रहा था। पुनः नम्रता से आप्लावित शब्दों में बोले कि मेरी छाती वज्र के समान कठोर है और आपके चरण अति कोमल हैं, कहीं मेरी छाती पर प्रहार करने से आपके पैर में चोट तो नहीं आई। महर्षि जी ! मुझे क्षमा कर दीजिये।

विष्णु भगवान् की इस प्रकार नम्रता व सहनशीलता को देखकर महर्षि भृगु जी अति प्रसन्न हुए और भगवान् से कहने लगे, ऐ लक्ष्मीपति ! यदि चाहते तो आप मुझे दण्ड भी दे सकते थे किन्तु उसकी अपेक्षा आपने कैसा सुन्दर व्यवहार किया है। धन्य है; आपकी महानता का उच्चादर्श ! आपकी तुलना में त्रिलोकों में कोई नहीं है।

भृगु जी ! इसके बाद वहाँ से विदा हुए और ऋषि-मुनियों

को उस सभा में पहुंचे और भगवान् विष्णु की महानता की पूरी प्रशंसा की। तब सबने एक स्वर से पूछा कि आपने उनमें कौनसा गुण देखा है, तब भृगु जो महाराज ने समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। तभी से यह कहावत प्रसिद्ध है कि— .

क्षमा बड़न को चाहिए, छोटन को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात॥

६४. भारतीय विद्यार्थी

छठी शताब्दी का समय था। थानेश्वर में हर्षवर्धन नामक राजा राज्य करते थे। बड़े सज्जन व सदाचारी थे। राज्य में प्रजाहित के लिए बहुत कार्य किये। महाराज हर्षवर्धन के शासन काल में चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया था। भारतीय तीर्थों तथा बौद्ध स्थलों की यात्रा भी की, इसी यात्रा में वह शिक्षा के केन्द्र नालन्दा विश्वविद्यालय भी गया।

ह्वेनसांग के स्थान-स्थान पर पहुंचने से उसे भेंट स्वरूप बहुमूल्य सामान दिया गया और बहुत सी सांस्कृतिक धरोहर, ऐतिहासिक म० बुद्ध व अन्य मूर्त्तियाँ, कलाकृतियाँ भी भेंट में दी गईं।

वापस लौटते समय नालन्दा के विद्यार्थी समुदाय ह्वेनसांग को विदाई देने आये। ह्वेनसांग की यात्रा जलमार्ग से हुई जिस में सारा सामान नाव में भर कर ले जाया जा रहा था। रास्ता हँस-बोल कर, मनोरंजन के साथ बीत रहा था। नौका बीच धार में जा रही थी कि अकस्मात् तूफान बवन्डर आ गया। नौका डगमगाने लगी।

नाविक ने कहा नाव भारी वजन से बोझिल हो गई है। अतः इसे हल्का करने हेतु इसमें रखे सामान को नदी में फेंक दो तो नाव हल्की हो जायगी। इसमें रखी मूर्त्तियाँ और धर्मग्रन्थों को नदी में फेंक दो, अन्यथा प्राण नहीं बचेंगे। ह्वेनसांग राजो हो गया परन्तु उसी क्षण भारतीय विद्यार्थी बोले कि यह अलभ्य सम्पदा भारत से ले जा रहे हैं।

यह सम्पदा डूब जाये यह असम्भव है। ह्वेनसांग का जवाब सुने बिना ही एक-एक कर छात्रजनों ने अपनी धरोहर को सुरक्षित रखने हेतु प्रभु को धन्यवाद देकर एक-एक कर जल में समाधि ले ली, और नाव हल्की हो गई।

६५. मालवीय जी और सम्मान

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक, हिन्दुत्व के प्राण, ब्राह्मण कुलभूषण, स्वनामधन्य पं० मदनमोहन मालवीय अपने समय के एक महान् व्यक्तित्व वाले कर्मकाण्डी विद्वान् महापुरुष थे। समय-समय पर समाज उन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करता रहेगा। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना से पूर्व उनके मस्तिष्क में वाराणसी संस्कृत शिक्षा के केन्द्र पर हिन्दुत्व की रक्षा हेतु हिन्दू शिक्षा संस्थान की स्थापना की जाये, वह अपने अथक परिश्रम त्याग-तप से पूर्ण किया। हिन्दू समाज पर जब-जब संकट आये आपने दुखित हृदय से उन्हें बचाने का प्रयास किया। विधर्मियों से लुटते हिन्दू समाज की रक्षा में अपने प्राण दिये, यह अवसर बंगाल नोआखाली की घटना के समय से सम्बन्धित है। अछूतोद्धार के विषय में हरिद्वार-हरि की पैड़ी पर हरिजन स्नान नहीं कर सकता था। उनको प्रवेश तथा स्नान

अधिकार दिलवाया। समाज की कुण्ठा उन्हें हर समय चिन्तित किये रहती थी इन सब बातों के कारण समाज में उनकी महती प्रतिष्ठा थी।

एक बार वाराणसी के विद्वन्मण्डल ने उन्हें सम्मानित करने की योजना बनाई और उन्हें उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव पास किया। इसकी स्वीकृति हेतु जब पण्डित गण मालवीय जी के पास गये और अपनी बात कही तो मालवीय जी ने कहा कि मुझ कोई उपाधि नहीं चाहिये। पण्डित से बढ़कर और बड़ी पदवी क्या हो सकती है, मुझे पण्डित ही रहने दो।

उसके कुछ समय बाद पण्डितों की फिर सभा हुई। जिसमें नये सिरे से सम्मानित करने की चर्चा हुई, और "पण्डितराज" के सम्मानित पद से सुशोभित किया जाय। इसकी भी जानकारी जब महामना को मिली तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि मैं नाम के साथ विशेषण नहीं लगवाना चाहता हूँ बिना विशेषण के ही मैं "पण्डित" नाम से ही संतुष्ट हूं। इससे बड़ी पदवी और मुझे क्या मिलेगी।

श्रद्धालु भक्तजन, विद्वन्मण्डल, मालवीय जी के इस उदार मन से अति प्रभावित हुए। मालवीय जी को महामना का गौरवपूर्ण पद आर्य जनता ने उनकी बिना स्वीकृति के प्रदान किया जो अब तक चल रहा है।

६६. जीवन का रहस्य

बाबा भोजन दे दो। बूढ़ा भूखा है, दाता एक सेठ के महल के पास खड़ा भीख माँग रहा है।

वह वृद्ध भिखारी है, आयु ६० की है, कांधे पर झोली, कपड़े

फटे-मैले हैं, वह सोच रहा है, उसका बचपन डाल पर बैठी चिड़िया की भाँति उड़ गया है। जवानी मौज-मस्ती में गंवा दी है, अब बुढ़ापा आया तब उस की मोह-निद्रा टूटी। अब उसने निश्चय किया, कि वह प्रभु गुण गायेगा और जहाँ-कहीं भी दो रोटी मिलीं खाकर मस्त पड़ा रहेगा। आज भीख मांगने निकला तो सेठ के महल से भगा दिया गया। अब मध्यम परिवार के घर पर खड़ा है। बोला—बूढ़ा भूखा है। दाता भोजन दे दो। वृद्ध की आवाज सुनकर एक महिला भोजन लेकर आई, लो बाबा! लो, स्त्री ने कहा, हाथ में पत्तल देने लगी वह बोला मुझे ऐसी भिक्षा नहीं चाहिए। स्त्री ने कहा कि मेरी भिक्षा क्यों नहीं लेते! कम है तो और लाऊँ!

भिखारी! यह तो स्थूल शरीर का भोजन है मुझे आत्मा का भोजन चाहिये, जिससे बाबा ईश्वर को देख सके। स्त्री के पास इसका कोई उत्तर न था। बूढ़ा आगे बढ़ा, कई द्वार देखे परन्तु आत्मा का भोजन न मिल सका। सन्ध्या हो चली थी, भिखारी आशा के सहारे आगे बढ़ा जा रहा था। भिखारी ने एक दर पर आवाज दी। फटे हाल, झोंपड़ी से स्त्री आई, टूटे कटोरे में ठंडा भात वृद्ध की ओर रखकर बोली। खा लो!

उसने पुनः मना कर दिया, बेटी मुझे आत्मा का भोजन चाहिए, यह नहीं। स्थूल शरीर का भोजन खाते-खाते तो जीवन बीत गया, जीभ का स्वाद अब तक नहीं छूटा। अन्धेरा हो गया था, थककर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। नींद आई स्वप्न देख रहा हैं कि वह वृद्धा के भोजन को न ले कर पछता रहा है। उसे देख एक बालक ने मिठाई देने को कहा—बच्चे की बात सुनकर बूढ़े को हंसी आ गई। वह लड़के को पकड़ कर बात करना चाहता था। पर वह भाग गया। भिखारी बोला, अच्छा

थी। तब बालक बोला कि आपने पहले मेरे घर भोजन क्यों मना किया। वृद्ध बोला तुम वहां न थे, बच्चा बोला मैं वहीं था।

भिखारी ने कहा कि अच्छा तुम मुझे आत्मा का भोजन कराओगे। बालक हाँ बाबा! क ख ग से पढ़ाई होती है।

क से करो, ख से खाओं, ग से गति करो।

बाबा, भगवान् तो गरीबों की कुटिया में रहता है। तुम भी गरीब बन जाओ। वह तुम्हारे पास दौड़ा आयेगा।

भिखारी फिर बालक को पकड़ना चाहता है, भिखारी का स्वप्न टूटता है, आँसू बह रहे थे।

आज उसने जिन्दगी का वास्तविक रहस्य पा लिया है।

६७. और राम भरत से हार गये

चौदह वर्ष का बनवास भोग कर, युद्ध में रावण को प्राण मुक्त करके और जानकी जी को बन्धन मुक्त कराके मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब अयोध्या वापस लौटे, राज्यभिषेक हुआ, और अयोध्यवासी धरती पर ही सब सुख भोगने लगे, अकस्मात् एक जिज्ञासु ने भरत से एक प्रश्न किया?

आपने प्रभु राम की इतनी भक्ति की, त्याग किया, राम भी आपको प्राणों से प्रिय मानते हैं। फिर क्या कारण है कि राज्य सभा में भी आपको सबसे पिछला स्थान दिया।

त्याग मूर्ति भरत ने उत्तर दिया, जो पेड़ कड़वा हो, उसकी पत्तियां भी कड़वी होती हैं। उसकी छाल तथा बीज, फूल, फल भी कड़वे होते हैं। मेरी माँ ने मेरे राम को चौदह वर्स का बन-

वास में भेजकर जघन्य पाप किया था। उसके गर्भ से जन्म लेने के कारण उसके पाप की कड़वाहट से मैं कैसे बच सकता था। अतः मुझ नराधम को सबसे पीछे स्थान दिया है। ताकि मेरा मुंह किसी को न दीखे, कोई अपशकुन व अमंगल न हो।

जब भरत के विचारों से राम को अवगत कराया, तो राम ने कहा कि भरत के यह विचार ठीक नहीं हैं। अयोध्या लौटने पर जब मैंने भरत को स्नान कराया था तो मैंने उनसे माँग की थी कि मैं आज तुम्हारे पीछे खड़ा हूं कल से तुम मेरे पीछे खड़े होगे। उन्होंने मेरी इस माँग को सहर्ष स्वीकारा था। इतना ही नहीं, भरत के हाथ में राम का छत्र है, कोई भी राजा तभी राजा रह सकता है जब तक उसका छत्र सुरक्षित है। अतः जब तक भरत चाहें तब तक राम का राज्य सुरक्षित है, उनकी इच्छा के विरुद्ध एक क्षण भी नहीं।

जिज्ञासु दुविधा में पड़ गया, उसने भरत को राम के विचार बताये। तब भरत बोले ! राम पतित पावन हैं, दीनदयाल, दीनबन्धु हैं, वह नीच से नीच की भी सराहना करते हैं। यही उनकी विशेषता है, वैसे सत्य वही है जो मैंने कहा है।

जिज्ञासु की उलझन और बढ़ गई। वह पुनः प्रभु की शरण में गया। राम को भरत की बात बताई, तो राम भाव विह्वल हो बोले, विश्वास करो, मैं जो कह रहा हूँ, वही सत्य है।

प्रेम-त्याग के युद्ध में, मैं प्राण प्रिय भरत से परास्त हो गया हूं, मैंने अपनी पराजय और उनकी जय स्वीकार करके उन्हें पीठ दिखा दी। अतः वे पीछे हैं, जो विजय की सूचक है।

सचमुच भरत जैसा जयी आज तक हो नहीं सका। स्वयं महाराज दशरथ जिस राम राज्य की स्थापना नहीं कर सके, भरत ने अपने त्याग, भक्ति और सेवा से उसे स्थापित कर सके।

६८. ब्रह्मचर्य की महिमा
(प्रथम घटना)

कर्णवास में राव कर्णसिंह का पहला वार तो तुम्हें याद ही होगा। स्वामी दयानंद फिर वहां आए तो वह भी वहाँ था। अब उसे स्वयं आने का साहस न हुआ। रात को रुपये का लालच देकर उसने एक सेवक को भेजा कि स्वामी जी का सिर उतार लाए।

स्वामी जी इन दिनों भी एक लंगोट में ही रहते थे। सर्दी के दिन थे। दरिया का किनारा था, पर तपस्वी को इसमें भी कष्ट न था।

सेवक दो बार तो डर कर कोरा लौट गया, तीसरी बार कई लोग इकट्ठे होकर आए। पर ज्यों ही स्वामी जी ने 'हूँ' शब्द किया और पाँव भूमि पर मार कर पूछा कि, कौन है ? वहीं उनके हाथ से तलवार छूट गई और वे धूर्त भाग गए। कर्णवास के ठाकुरों और अन्य लोगों ने कहा कि हम राव को सीधा किए देते हैं, पर स्वामी जी ने रोक दिया।

किसी ने स्वामी जी को समझाया कि अब सावधान रहना चाहिए। ऋषि ने उत्तर दिया।

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।"

अर्थात् इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है। कोई आयेगा भी तो हमारा क्या बिगाड़ लेगा ?

बैलगाड़ी कीचड़ में
(दूसरी घटना)

एक बार स्वामी दयानन्द यात्रा में जा रहे थे। मार्ग में देखा एक बैलगाड़ी कीचड़ में धंसी खड़ी है। बोझ लदा है। गाड़ी-

वान बैलों पर डण्डे चला रहा है। बैल जोर लगा रहे हैं। स्वामी जी फौरन कीचड़ में जा घुसे। गाड़ीवान को डण्डे चलाने से बन्द किया और गाड़ी को कीचड़ से बाहर कर दिया।

बग्घी की कथा

(तीसरी घटना)

अमृतसर के बाद गुरदासपुर और फिरोजपुर में व्याख्यान देते और वहाँ आर्यसमाज की स्थापना करते हुए स्वामी जी जालन्धर पहुंचे। वहाँ के सरदार विक्रमसिंह की कोठी पर ठहरे और वहाँ ३५ व्याख्यान दिये। एक दिन विक्रमसिंह ने स्वामी जी से कहा कि आप ब्रह्मचर्य से अतुल बल की प्राप्ति की बात कहते हैं, पर इसका सबूत क्या है? स्वामी जी उस समय चुप रहे। सांझ के समय सरदार साहब अपनी बग्घी पर बैठकर बाहर घूमने निकले। गाड़ी में घोड़ों की बढ़िया जोड़ी जुती थी। कोचवान ने चाबुक फटकारा। जो जोड़ी इशारा पाते ही हवा से बात करने लगती, वह केवल पांव उठाकर रह गई। कोचवान झुँझलाया। सरदार साहब आश्चर्य से इधर-उधर देखने लगे। पीछे दृष्टि पड़ी तो देखा कि स्वामी जी गाड़ी को पकड़ कर मुस्करा रहे हैं। सरदार साहब को ब्रह्मचर्य के बल का सबूत मिल गया और स्वामी जी ने हंस कर गाड़ी छोड़ दी।

६१. महारानी विक्टोरिया का राज्यभिषेक

महारानी विक्टोरिया के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में १ जनवरी, सन् १८७७ में लार्ड लिटन गवर्नर जनरल व वायसराय हिन्द ने देहली में एक बड़ा भारी दरबार किया था, जिसके सिलसिले में भारत के देशी नरेश, प्रमुख विद्वान् तथा करोड़ों की संख्या में जन-साधारण देहली पधारे थे। स्वामी दयानन्द जी उन दिनों भारत के विभिन्न धार्मिक नेताओं और सुधारकों को किसी एक सर्वसम्मत धर्म, भाषा और नीति पर सहमत करने का प्रयत्न कर रहे थे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने देहली दरबार के अवसर से लाभ उठाने का यथा साध्य पूर्ण प्रयत्न किया। उधर लार्ड लिटन का दरबार लगा, इधर स्वामी दयानन्द का। स्वामी के दरबार में, प्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैय्यद अहमद खाँ, मुन्शी कन्हैया लाल अलखधारी, बाबू नवीनचन्द्र राय, बाबू हरिश्चन्द्र चितामणी प्रभृति नेता और सुधारक उपस्थित थे। स्वामी जी का यह यत्न उस समय सफल नहीं हो सका, परन्तु इसके बाद भी वे इस दिशा में विशेष यत्नवान रहे। यदि मौत का दूत उन्हें कुछ और भी मोहलत देता तो शायद किसी रूप में उन्हें कुछ सफलता मिल ही जाती।

पं० जगन्नाथ को क्षमादान

स्वामी जी की मृत्यु का रहस्य का खुला। कहते हैं कि एक दिन जोधपुर के महाराज ने स्वामी जी को बुलवाया था। स्वामी जी बिना सूचना दिए ही अन्दर चले गए। महाराजा ने

बहुत जल्दी की कि नन्हीं जान वेश्या के आने का ज्ञान स्वामी जी को न हो। परन्तु स्वामी जी की दिव्य दृष्टि से कौन अपने कुकृत्य छिपा सकता था ? स्वामी जी ने देख ही लिया। गरज कर महाराज से बोले, "क्या राजाओं को यह शोभा देता है कि शेर होकर कुतियों के पीछे फिरे।" राजा क्षमा-प्रार्थी हुए, भविष्य के लिए नन्हीं जान के नाच से मुंह मोड़ लिया। परन्तु नन्हीं जान को यह सब बहुत बुरा लगा। उसने षड्यन्त्र रचा। स्वामी जी के पाचक (रसोइया) जगन्नाथ को कुछ रुपया देकर गांठा और उस के द्वारा पापिन ने स्वामी जी को दूध में पिसा कांच मिला कर पिलवा दिया। जगन्नाथ को बाद में अपनी नीचता पर बड़ा पछतावा हुआ। उस ने स्वामी जी से क्षमा मांगी और गिड़गिड़ाने लगा। दयालु दयानन्द दया से पिघल गए। रुपये देकर उस से कहने लगे, "अंग्रेजी राज्य की सीमा से बाहर हो जा, अन्यथा तेरे पकड़े जाने का डर है।" जगन्नाथ ने स्वामी जी को विष दिया, उसके बदले स्वामी जी ने उसे धन और जीवन-दान दिया।

७१. जय जवान जय किसान

देश में जब स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष छिड़ा हुआ था, और महात्मा जी के नेतृत्व में असहयोग-आन्दोलन पूरे यौवन पर था, उस समय देशवासियों का नारा 'वन्दे मातरम्' था। देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् हमारे प्रधानमन्त्री नेहरू जी ने देश को 'जय हिन्द' का नारा दिया। नेता जी सुभाषचन्द्र बोस ने अपनी हिन्द फौज में यही नारा लगाया था, इसे ही नेहरू जी ने स्वीकार किया। जब शास्त्री जी प्रधान मन्त्री बने, देश को

अनेक समस्याएँ उन के सामने थीं। इतने में पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया और उस से युद्ध छिड़ गया। शास्त्री जी के मस्तिष्क में दो समस्याएं मुख्य रूप से विद्यमान थीं। एक देश की सुरक्षा और दूसरी देश में गरीबी और खाद्य समस्या का अन्त। देश की सुरक्षा के लिए उन्होंने सैनिकों का हौसला बढ़ाने के लिए 'जय जवान' कहा और उपज बढ़ाने के लिए कृषकों को प्रोत्साहन देने के लिए उन्होंने 'जय-किसान' कहा।

१० अक्टूबर, १९६५ को आकाशवाणी से देश के नाम सन्देश प्रसारित करते हुए आपने कहा—'वक्त बहुत नाजुक है, खतरा अभी टला नहीं है। संकट के समय में बहादुर जवानों ने जो रास्ता दिखाया है क्या हमारे किसान उस से पीछे रह सकते हैं ? जवान अपना खून बहा रहा है, देश के लिए अपनी जान की बाजी लगाए बैठा है। किसान को अपनी मेहनत और अपना पसीना देना है। किसान हमारे देश के प्राण हैं। उन्हें आज लाखों की तादाद में उत्साह और मेहनत से खेती में जुट जाना है। उनके सामने एक ही मन्त्र है। अनाज की पैदावार बढ़ाओ। हम दूसरे देशों पर निर्भर न रहें। हम अपनी आजादी को सञ्जोये रखें। हम पर जो कुछ भी बीते, पर देश का सम्मान सदा बना रहे। हमें आत्मनिर्भर, शक्तिशाली देश बनना है, और बनकर रहेंगे। इन शब्दों के साथ शास्त्री जी ने देश को 'जय जवान जय किसान' नया नारा दिया जो शास्त्री जी के हृदय और देश की वास्तविक स्थिति को व्यक्त करता है।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥

—महाभारत उद्योगपर्व विदुर प्रजागर अ०-३२

७२. पंचशील का निर्माता चला गया

देश का यह महान् दुर्भाग्य था कि भारत के सर्वप्रिय प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू २७ मई, १६६४ को इस संसार से चले गये। वह सच्चे अर्थों में शान्तिदूत थे। पण्डित जी १८ वर्ष तक निरन्तर भारत के प्रधान मन्त्री के रूप में कार्य करते रहे। आप की नीति शान्ति और तटस्थता की नीति थी। आपने घोषणा की कि हम महात्मा गान्धी की शान्ति की नीति को ही अपनाए रखेंगे, और किसी देश से युद्ध नहीं करेंगे। भारत किसी पर आक्रमण नहीं करेगा, केवल आत्मरक्षा ही करता रहेगा। आपने भारत को राष्ट्र-सुरक्षासंघ का सदस्य बनाया और कहा कि भारत सदा गुटबन्दी से अलग रहेगा। अपने प्रत्येक भाषण में पण्डित जी ने इसी बात को दोहराया। पं० नेहरू के प्रयत्नों से भारत का स्थान विश्व में ऊंचा उठा और सब देश इस देश का सम्मान करने लगे। भारत के शान्ति-प्रयत्नों की सबने सराहना की। संसार में जहाँ भी युद्ध होता पं० जवाहरलाल नेहरू उसे टालने का प्रयत्न करते, अनेक युद्ध इन के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप टले भी। लोगों ने कहा कि भारत को भी अणुबम बनाना चाहिए, किन्तु पं० नेहरू सदा इसका विरोध ही करते रहे। संसार में युद्धबन्दी और शान्ति की स्थापना के लिए आपने चीन के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ एन लाई के सहयोग से १६५४ में 'पंचशील' का निर्माण किया। विश्व के अधिकांश बड़े राष्ट्र इस विषय से सहमत हैं कि पंचशील ही विश्वशान्ति का आधार हो सकता है। १६५५ के बाडुंग सम्मेलन में १६ राष्ट्रों ने पंचशील को विश्वशान्ति का मूलमन्त्र स्वीकार किया था। पंचशील का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१—एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता तथा प्रभुता का सम्मान,

२—परस्पर अनाक्रमण,

३—एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना,

४—समता तथा परस्पर लाभ, और

५—शान्तिमय सह-अस्तित्व।

विश्वशान्ति के क्षेत्र में भारत ने केवल सिद्धान्त उपस्थित किया हो, ऐसी बात नहीं। क्रियात्मक कार्य भी भारत ने किया है। यदि देखा जाय तो क्रियात्मक कार्य सिद्धांत से अधिक हुआ है। भारत ने पंचशील के सिद्धान्तों का न केवल पालन ही किया, अपितु दूसरे राष्ट्रों को भी इस ओर प्रेरित किया।

७३. गाली कहाँ जायेगी

भारद्वाज नाम का ब्राह्मण भगवान् बुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षा को गया था, उसका एक सम्बन्धी इस बात से अत्यन्त क्षुब्ध होकर भगवान् बुद्ध के समीप पहुँचा और उन्हें बहुत अपशब्द कहने लगा। बुद्ध देव तो देव ही ठहरे, देवता के समान ही वे शान्त और मौन बने रहे।

ब्राह्मण अन्ततः अकेला कहाँ तक गाली देता, आखिर वह थक कर चुप हो गया। अब भगवान् बुद्ध ने पूछा—क्यों भाई! तुम्हारे घर कभी अतिथि आते हैं?

ब्राह्मण ने कहा—आते तो हैं।

बुद्ध ने फिर पूछा—तुम उनका सत्कार करते हो? ब्राह्मण खीज कर बोला—अतिथि का सत्कार कौन मूर्ख नहीं करेगा। भगवान् बोले—मान लो कि तुम्हारी अर्पित वस्तुएं अतिथि

स्वीकार न करे तो वे कहाँ जायेंगी ?

ब्राह्मण ने फिर झुंझला कर कहा—वे जायेंगी कहाँ, अतिथि उन्हें नहीं लेगा तो वे मेरे पास रहेंगी।

बुद्ध ने शान्ति से कहा—भद्र ! तुम्हारी दी हुई गालियाँ मैं स्वीकार नहीं करता, अब यह गालियां कहां जायेंगी, किस के पास रहेंगी ? ब्राह्मण का मस्तक लज्जा से झुक गया, उस ने भगवान् बुद्ध से क्षमा मांगी।

७४. गुरुभक्ति की परीक्षा

छत्रपति शिवाजी के सद्गुरु समर्थ रामदास जी महाराज का नाम प्रसिद्ध है। एक समय की बात है श्री समर्थ रामदास जी और उनका शिष्य मण्डल कुछ दिनों के लिए इकट्ठा हुआ। शिष्यों में आपस में होड़ सी लगी थी कि सद्गुरु की सब से बढ़कर सेवा कौन करता है और प्रायः सभी अपने को सब से बढ़कर सेवक के रूप में प्रमाणित करने के लिए उत्सुक थे।

श्री गुरुदेव को भी यह बात मालूम हो गई। उन्होंने सच्ची कसौटी पर कौन शिष्य खरा उतरता है इसकी परीक्षा के लिए एक लीला रची। एक दिन सारा शिष्य मण्डल उपस्थित था। वे जोर-जोर से कराहने लगे, मानो उनके किसी जगह बहुत पीड़ा हो रही है। समस्त शिष्य घबरा गये और सब ने समर्थ महाराज से इस का कारण पूछा।

श्री स्वामी जी ने कहा, पुत्रो ! मेरी जांघ में एक बड़ा भारी फोड़ा हो गया है उस में असह्य पीड़ा हो रही है। शिष्य मण्डल में हलचल सी मच गई। सभी शीघ्र इलाज कराने को बेचैन से हो गये, कोई कुछ दवाई और कोई कुछ करने को

कहने लगे। स्वामी जी ने कहा, सुनो पुत्रो! यह मेरा फोड़ा असाधारण है और यह तुम्हारी किसी भी दवाई से ठीक नहीं हो सकेगा, तुम इलाज की कोशिश न करो।

शिष्य आग्रह पूर्वक बोले—महाराज! कुछ न कुछ इलाज तो होना चाहिये। स्वामी जी ने उत्तर दिया—हाँ वत्सो! इस के लिए एक ही इलाज हो सकता है और उस से तुरन्त ही पीड़ा मिट जायेगी, परन्तु वह बहुत कठिन है इतना कहकर वे जोर-जोर से चीखें मार कर कराहने लगे। यह देखकर शिष्य बोले—महाराज! कैसा भी कठिन इलाज क्यों न हो उसे करने में हमें अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं है, आप बताओ तो सही।

स्वामी जी सबसे यही तो कहलाना चाहते थे उन सब के इतना कहते ही स्वामी जी बोले—सुनो! इसका इलाज यह है कि कोई मनुष्य मेरे इस फोड़े को मुंह लगाकर चूसे। बस मेरी मेरी पीड़ा तुरन्त मिट जायेगी, परन्तु फोड़ा चूसने वाला उसी समय मर जायगा। स्वामी जी की यह बात सुनते ही सब शिष्य एक दूसरे के मुख की ओर ताकने लगे, कोई भी इस कार्य को करने के लिए आगे नहीं बढ़ा।

अन्त में कल्याण नामक शिष्य उठे और उन्होंने स्वामी जी से फोड़े पर बंधी पट्टी खोलने को कहा। स्वामी जी ने कहा, पट्टी खोलने में मुझे असह्य पीड़ा होगी, इस कारण पट्टी नहीं खोलता। हाँ पट्टी में से एक कोने पर फोड़े का काला सा मुंह दिखाई दे रहा है बस वहीं से चूसना आरम्भ कर दो।

कल्याण ने सद्गुरु चरणों में सिर रक्खा और फोड़े को चूसना आरम्भ कर दिया। फोड़े में से चार छः घूंट लेने के बाद तो कल्याण ने अपना मुंह फोड़े पर सारी शक्ति से लगा दिया

और बड़े जोर से चूसने लगा। उसे बड़ा मधुर स्वाद मिल रहा था। स्वामी जी चिल्ला उठे, अरे कल्याण! धीरे, अरे धीरे। पर कल्याण कब मानने वाला था। कल्याण बोला, महाराज! आपके प्रतिदिन ऐसे ही फोड़े हुआ करें और मैं उन्हें चूसा करूँ। इतना कहकर कल्याण ने यथाशक्ति सारा, फोड़ा चूस लिया।

अन्त में स्वामी जी ने पट्टी खोली और जांघ पर से तोतापुरी आम की एक बड़ी गुठली और छिलका निकल पड़ा। देखकर सारे शिष्य लज्जित हो गये।

पाठक समझ ही गये होंगे कि स्वामी जी ने पके हुए मीठे तोतापुरी आम पर ही पट्टी बाँध ली थी। आगे चलकर अपनी अनुपम गुरु भक्ति से कल्याण समर्थ रामदास जी महाराज के पट्ट शिष्य होकर कल्याण स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

●

७५. यथार्थ वक्ता महर्षि वशिष्ठ

विश्वामित्र जी ब्रह्मऋषि बनने के लिए बहुत तप कर रहे थे परन्तु वशिष्ठ जी ने उन को राजऋषि कहकर ही सम्बोधन किया। इस पर वह रुष्ट हो गये और उन के कई पुत्रों को भी मन्त्रबल से मार दिया। वशिष्ठ जी की धर्मपत्नी अरुन्धती ने अपने पति कहा कि विश्वामित्र ने हमारे पुत्रों को मारा है आप भी इस का बदला लें। वशिष्ठ जी बोले, पाप करके स्वयं ही अपने को मार रहा है, मरे हुए को क्या मारना, वह तो दया का पात्र है।

इतने पर भी जब वशिष्ठ जी ने ब्रह्मऋषि न कहा, तब विश्वामित्र जी ने वशिष्ठ जी को समाप्त कर देने का दिल में

निश्चय कर लिया और शस्त्र लेकर एक रात्रि को उनकी कुटी पर पहुँचे। उस समय चन्द्रमा की चाँदनी में बैठे वशिष्ठ जी और अरुन्धती बातचीत कर रहे थे। अरुन्धती ने कहा—कितना स्वच्छ निर्मल प्रकाश है चन्द्रमा का। वशिष्ठ जी ने कहा—यह चन्द्रमा का प्रकाश दिशाओं को उसी प्रकार उज्ज्वल कर रहा है जैसे आजकल विश्वामित्र की तपस्या का तेज।

वृक्षों के झुरमुट में छिपा एक मनुष्य (विश्वामित्र) वशिष्ठ जी की 'विश्वामित्र का तेज', यह बात सुनकर एकान्त में अपनी पत्नी से अपने शत्रु की महिमा इस सच्चाई से प्रकट करने वाले ये महापुरुष ! और इनकी हत्या का संकल्प लेकर रात्रि में चोर की भाँति छुपकर आने वाला मैं पुरुष अधम !

महात्मा वशिष्ठ जी के हृदय का पता लगते ही विश्वामित्र का हृदय बदल गया। अस्त्र शस्त्र शरीर पर से फेंक दौड़कर वशिष्ठ जी के चरणों में गिर पड़ा और कहा कि मुझ अधम को क्षमा करें। अरुन्धती चकित हो गई।

महर्षि वशिष्ठ ने चरणों में पड़ व्यक्ति को उठाने के लिये झुकते हुए स्नेहपूर्ण स्वर से पुकारा, ब्रह्मऋषि विश्वामित्र।

शस्त्र त्याग नम्रता और क्षमा को अपनाकर आज विश्वामित्र ब्रह्मऋषि हो गये थे।

७९. सेवक के साथ उदार व्यवहार

श्री ताराकान्तराय बंगाल के कृष्णनगर राज्य के उच्च पद पर नियुक्त थे। नरेश उन्हें अपने मित्र की भांति समझते थे। जाड़े की ऋतु में एक दिन वे बहुत अधिक रात बीतने पर अपने

शयन गृह में पहुँचे वहाँ उन्होंने देखा कि उन का एक पुराना सेवक उन की शय्या पर पैंत की ओर सो रहा है। श्री राय ने एक चटाई उठाई और उसे बिछाकर चुपचाप भूमि पर सो गये।

कृष्णनगर के नरेश को सवेरे-सवेरे कोई उत्तम समाचार मिला। प्रसन्नता के मारे नरेश स्वयं श्री राय को वह समाचार सुनाने उनके शयनगृह की ओर चले आये। नरेश ने उनका नाम लेकर पुकारा। इससे राय महोदय हड़बड़ाकर उठ बैठे। शय्या पर सोया हुआ नौकर भी जाग गया और डरता हुआ दूर खड़ा हो गया।

राजा ने समाचार सुनाने से पहले पूछा—राय महाशय! यह क्या बात है? आप भूमि पर सोते हैं और सेवक शय्या पर। श्री राय ने कहा—मैं रात कुछ देर से लौटा, तो यह शय्या पर सो रहा था। मुझे लगा इस का स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा अथवा काम करते-करते यह बहुत अधिक थक गया होगा। शय्या पर तनिक लेटते ही नींद आ गई होगी। जगा देने से इसे कष्ट होता और चटाई पर सो जाने में मुझे कोई असुविधा नहीं थी।

७७. सत्य के लिए त्याग

श्री अश्विनीकुमार दत्त जब हाईस्कूल में पढ़ते थे तब कलकत्ता विश्वविद्यालय का यह नियम था कि सोलह वर्ष से कम अवस्था के विद्यार्थी हाईस्कूल की परीक्षा में नहीं बैठ सकते थे। इस परीक्षा के समय अश्विनी बाबू की अवस्था चौदह वर्ष की थी किन्तु दूसरों की भांति उन्होंने भी सोलह वर्ष की अवस्था

लिखाई और परीक्षा में बैठे। इस प्रकार वे मैट्रिक में पास हो गये।

ठीक एक वर्ष बाद एफ० ए० के प्रथम वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर अश्विनीकुमार जी को अपने आचरण में जो असत्य का दोष था उसका ज्ञान हुआ। उन्हें अपने असत्याचरण पर बड़ी ग्लानि हुई। अपने कालेज के प्रिंसिपल से उन्होंने सब बातें प्रकट करके इस असत्य के सुधारने की प्रार्थना की। प्रिंसिपल ने उन की सत्यनिष्ठा की प्रशंसा की, किन्तु जो कुछ हो गया, उसे सुधारने में असमर्थता बताई।

अश्विनीकुमार जी विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार से मिले। परन्तु वहां भी उत्तर मिला, अब बात बाहर हो गई लेकिन अश्विनी बाबू ने प्रायश्चित्त किया। दो वर्ष झूठी आयु बढ़ाकर जो लाभ उठाया गया था उस के लिए उन्होंने दो वर्ष पढ़ाई बन्द रखी।

७८. राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

बही खाता ठीक करो

नासिक में कांग्रेस का अधिवेशन था। उस के पश्चात् एक दिन राजर्षि गोदावरी के घाट पर भ्रमणार्थ आए तो वहाँ पंडा जी ने अपनी बही लेकर उन के सामने रखी और बोले—महाराज! इस में आप के पूर्वजों की वंशावली दी हुई है। टण्डन जी देखकर आश्चर्यचकित हुए और बोले—यह बही खाता कितना पुराना है जिस में समस्त हिन्दूमात्र का चिट्ठा अंकित है। सब देखने के बाद वह पंडा जी से बोले—पंडा! यह बही खाता

आप का बहुत ही गलत है। पंडा जी हैरत से बोले कि ऐसा नहीं है। तब राजर्षि ने एक बात कही—

यह बताओ कि जब शाम को एक सेठ अपनी दुकान बन्द करता है तब दुकान का पाई-पाई हिसाब मिलाकर बन्द करता है, अगर एक पसे की भी भूल-चूक रह जाए तब चार आने का तेल फूंकना मंजूर है पर हिसाब बिना मिले घर जाना स्वीकार नहीं। पंडा जी ने हाँ में हाँ मिलाई और स्वीकारी दी। तब टण्डन जी ने कहा कि अब बताओ कि तुम्हारा बही खाता ठीक है या गलत ? पंडा नहीं समझा। तब टण्डन जी बोले कि आज किसी मुसलमान से उस का नाम पूछो तो कहेगा—रहीम तुल्ला और बाप का नाम करीम खाँ। फिर बाबा व परबाबा का नाम बताएगा। आगे का नाम पूछने पर रहीम कहेगा कि मेरे परदादा का नाम चौधरी रामपाल सिंह था। बोलो तुम्हारा बही खाता ४-५ पीढ़ी पहले ठीक था फिर गलत हुआ और आप ने कभी दुरुस्त करने की कोशिश नहीं की। इस प्रकार सारे देश का ढांचा ही परिवर्तित हो गया। जिस कौम के लोग एक-एक पाई का हिसाब रखते हों उस जाति का हिसाब ४-५ पीढ़ी से भूल-भुलैय्या में हो वह कौम कैसे बचेगी। पंडा बोला—तो कौन ठीक करेगा इसे ? उत्तर में राजर्षि बोले—तुम्हारा बही खाता। दयानन्द के वीर सिपाही आडिट करके दुरुस्त करेंगे। जिस कौम का व्यय अधिक है आमदनी बन्द हो तो वह एक दिन दिवालिया हो जाएगी।

न हि सत्यात्परो धर्मोनानृतात्पातकं परम् ॥

७१. सर्ववेदस यज्ञ

नचिकेता के पिता वाजश्रवा ऋषि ने सर्ववेदस नाम का यज्ञ किया। सर्ववेदस का तात्पर्य सर्वस्व त्याग, जिस मे अपनी समस्त सम्पत्ति का परित्याग कर देना है। वाजश्रवा ने यह यज्ञ किया और यज्ञ की समाप्ति पर दक्षिणा देने का समय आया, तो दक्षिणा में ऐसी गायें भी दान में दीं, जिन का कोई उपयोग न था। गायें इतनी निकम्मी और बूढ़ी हो गई थीं कि वह खाने-पीने में भी असमर्थ थीं। जिन की समस्त शक्तियाँ क्षीण हो चुकी थीं। दूध न देने वाली बेकार, जो दान में केवल बोझ स्वरूप थीं। बालक नचिकेता इस दृश्य को देख रहा था। बाल-स्वभाव होने पर भी वह यह समझता था कि मेरे पिता सर्व-वेदस यज्ञ कर रहे हैं किन्तु सम्पत्ति के प्रति उन का मोह ज्यों का त्यों बना हुआ है। वे तो धर्म के क्षेत्र में एक प्रकार से प्रवञ्चना का आश्रय ले रहे हैं। त्याग के स्थान पर यज्ञ को एक भुलावा देने की कोशिश कर रहे हैं।

बाल रूप होने पर भी नचिकेता ने अपने पिता को बहुत समझाने की कोशिश की तो पिता न माना। तब पुत्र ने कहा, "कस्मै मां दास्यति" मैं भी आप की सम्पत्ति पुत्र-रूप में हूँ तो आप मुझे किस को भेंट स्वरूप देंगे। ऐसी बात सुनने पर पिता ने बहुत टालने की कोशिश की परन्तु बालहठ के समक्ष पिता की न चली। तब क्रोध में आकर बोले—मैं तुझे "मृत्यवे त्वां ददामि" यमराज को देता हूँ। जब तक मन में सम्पत्ति का मोह नहीं छूटा तब तक घर को छोड़ने से काम नहीं चलेगा क्योंकि आप और हम सभी इस बात को जानते हैं कि इच्छा तो हृदय के अन्दर विद्यमान रहती है तब तक वह बन्धन हमारे साथ जुड़ा हुआ है।

८०. ब्रह्मर्षि विश्वामित्र कैसे ?

राजर्षि विश्वामित्र एक क्षत्रिय राजा थे और महर्षि वशिष्ठ एक विप्र ब्रह्मज्ञ बड़े ऋषि थे। एक गाय को लेकर विश्वामित्र और वशिष्ठ में विवाद हो गया। ब्रह्मर्षि के पास जो गाय थी उसे विश्वामित्र ले लेना चाहते थे, पर वशिष्ठ उसे देना नहीं चाहते थे। इस लेन-देन पर मनमुटाव बढ़ा।

इस विवाद में ब्रह्मशक्ति के आगे क्षात्र जो तेज था वह परास्त हुआ। इसलिए विश्वामित्र ने निश्चय किया कि मैं भी ब्रह्मर्षि बनूंगा। प्रवृत्ति से आखिर वह क्षत्रिय थे वैसा ही उन का स्वभाव था। किसी से पराजय वह स्वीकार नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने चाहा कि मैं क्षत्रिय के नाते ही यदि इस ब्रह्मर्षि के समक्ष कमजोर सिद्ध हुआ हूँ तो मैं इस को पराजित करने के लिए इसी की जो विद्या है या इसी का जो संस्कार है इस को प्राप्त करूगा। स्पर्धा की भावना से वे ब्रह्मर्षि बनना चाहते थे।

कोई ब्रह्मर्षि के गुणों को प्राप्त करने के लिए तो अभी उन के मन में भावना नहीं थी। उन्होंने बडा कठोर तप किया, देवता लोग प्रसन्न हो गये। आकर पूछा—क्या चाहते हैं आप ? ब्रह्मा जी ने उन्हें वरदान दिया—जाओ तुम्हें हम ने राजर्षि बना दिया परन्तु विश्वामित्र इस से प्रसन्न नहीं थे उन्हें तो ब्रह्मर्षि बनना था। उन्होंने फिर तप करना शुरू किया तो उन की तपस्या भंग करने के लिए मेनका भेजी गई। फिर रम्भा भी भेजी गई। मेनका से शकुन्तला का जन्म हुआ। रम्भा को क्रोधित होकर विश्वामित्र ने पत्थर बना दिया। कोयल के रूप में वह आई थी।

दोनों बार देवता विश्वामित्र के पास प्रकट हुए और उन्होंने उन का उपहास किया। संक्षेप में कहा कि काम-क्रोध तो तुम ने जीते नहीं और ब्रह्मर्षि बनना चाहते हो। जब तक काम-क्रोध आप में विद्यमान हैं तो ब्रह्मर्षि बनने की योग्यता आप में आई नहीं। इस के बाद विश्वामित्र को बोध हुआ और उन्होंने तप करके काम-क्रोध पर काबू पा लिया और तब वशिष्ठ ने उन्हें ब्रह्मर्षि की उपाधि से गौरवान्वित किया।

८१. आत्म विस्मृति

महाराज बिम्बसार पाटलिपुत्र के राजा थे। उन के पुत्र राजकुमार अजातशत्रु यौवन की ओर बढ़ रहे थे। धीरे-धीरे राजकुमार के मित्रों और चापलूसों ने अजातशत्रु के मन में राज्यपद की लिप्सा उत्पन्न कर दी। एक बार युवराज की राज्य-प्राप्ति की भावना महाराज बिम्बसार के कानों तक पहुंच गई। महाराज बड़े चिन्तित थे। अतः अपनी चिन्ता दूर करने हेतु मन्त्रिपरिषद् की बैठक बुलाई और उन के समक्ष अजातशत्रु के मन के भावों को व्यक्त किया। मन्त्रिपरिषद् ने महाराज से निवेदन किया कि कल राज्य तो देना ही है। अतः आज थोड़ा छोटे राज्य का राज्यपाल बना दें। बात भी बन जाएगी और युवराज भी प्रसन्न हो जाएंगे। महाराज ने ऐसा ही किया। एक प्रान्त का अधीक्षक बना कर शान्ति की सांस ली परन्तु चापलूसों को चैन कहाँ, उन्होंने फिर युवराज को उकसाया और कहा कि यह राज्य कैसा? जब तक पूरा देश न मिले तब तक राज्य कैसा। महाराज के समक्ष पुनः समस्या उपस्थित हुई और पुनः मन्त्रिपरिषद् की बैठक बुलाई गई। बैठक के समक्ष
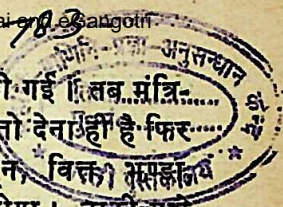
पूर्व की भांति पुनः वही राज्य की लिप्सा रखी गई। तब मंत्रि-परिषद् ने फिर वही बात दुहराई कि बाद में तो देना ही है फिर सारा राज्य दे दो। किन्तु राजधानी, कानून, वित्त, झण्डा, सिक्का आदि पर अधिकार राजा को ही होगा। बाकी सारे देश पर तुम्हारा ही शासन चलेगा। बात मानकर युवराज को नीति के अनुसार कुछ चीजों को छोड़कर सारा देश सौंप दिया गया।

कुछ समय के बाद यार-दोस्तों ने फिर बतलाया कि बिना झण्डा और राजधानी के राज्य कैसा! युवराज ने फिर विद्रोह का झण्डा उठाया और महाराज के समक्ष सम्पूर्ण शासन की माँग उपस्थित की। महाराज ने मन्त्रिपरिषद् की बैठक फिर बुलाई तथा उनके समक्ष समस्या समाधान हेतु रखी।

मन्त्रियों ने अब की बार पूर्ण निश्चय से निर्णय दिया, कि युवराज को आपके बाद पूर्ण साम्राज्य मिलना ही है, अतः उन्हें आज ही राजगद्दी पर क्यों न आसीन कर दें। महाराज के समझ में आ गई और अजातशत्रु का राज्याभिषेक हो गया। अभि-षेक होने के बाद युवराज के मन में एक विचार उत्पन्न हुआ कि कहीं महाराज भविष्य में कोई नया बखेड़ा न खड़ा कर दें। अतः क्यों न इन्हें मार्ग से हटा कर कैद कर बन्दी गृह में डाल दें। इस के बाद महाराज बन्दी गृह में कैद किये गये और उन्हें इतनी यातनाएं दी गईं कि वह भविष्य में राजसत्ता की बात भी न सोच सकें और कर भी न सकें। महाराज काफी दुर्बल तथा कृश हो चुके थे।

एक दिन अजातशत्रु अपने बच्चे की अंगुली में फोड़े की पीड़ा से अति परेशान थे। उस की परेशानी को महारानी बिम्बसार ने देखा और जोर से हंसी। इस हंसी को सुन कर

अजातशत्रु ने हँसने का कारण पूछा। राजमाता बोली—जब तुम भी छोटे थे तब तुम्हारी पीठ में फोड़ा निकला था। तुम्हारी पीड़ा से महाराज इसी प्रकार दुःखी थे। जब तक तुम्हारी पीड़ा दूर नहीं की तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ा। इस बात को सुनते ही अजातशत्रु चौंक पड़ा।

युवराज के मन में अब तक राजा व राज पुत्र के भाव विद्यमान थे। इस से वह सत्ता के लिए विद्रोही बना था। परन्तु जैसे ही अजातशत्रु के मन में (पिता व पुत्र) महाराज मेरे पिता हैं और मैं उन का पुत्र हूँ तभी विद्रोह की आग शान्त हो गई और वह कैदखाने की ओर भागा। महाराज को जैसे ही यह सूचना मिली तो वह घबरा गये कि अब और क्या यातना मिलनी है। अतः प्राण-पखेरू उड़ गये। राजकुमार जब तक पहुँचा महाराज स्वर्ग सिधार चुके थे। यह सब क्यों ? अजातशत्रु आत्म-विस्मृति के कगार पर खड़ा था। सत्य का बोध होते ही विद्रोह के भाव समाप्त हो गए।

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः।
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥